सहजानंद शास्त्रमाला

योगिभक्ति प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'योगिभक्ति प्रवचन'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों वव्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में **संस्कृत योगिभक्ति, प्राकृत योगिभक्ति** तथा **लघु योगिभक्ति** पर सरल प्रवचनों का संकलन किया गया है|

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे |

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर, इन्दौर** एवं प्रूफ चेक करने में **श्रीमती प्रीति जैन,इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णीमहाराज द्वारा रचित ''सहजानन्द''

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय .... - 2 -

आत्मकीर्तन .... - 3 -

आत्म रमण .... - 4 -

श्लोक 1 1

श्लोक 2 13

श्लोक 3 43

श्लोक 4 48

श्लोक 5 52

श्लोक 6 55

श्लोक 7 59

श्लोक 8 61

प्राकृत योगिभक्तिः 65

श्लोक 1 65

श्लोक 2 69

श्लोक 3 71

श्लोक 4 76

श्लोक 5 78

श्लोक 6 83

श्लोक 7 89

श्लोक 8 91

श्लोक 9 92

श्लोक 10 94

श्लोक 11 95

श्लोक 12 97

श्लोक 13 99
श्लोक 14 102
श्लोक 15 105
श्लोक 16 105
श्लोक 17 106
श्लोक 18 108
श्लोक 19 109
श्लोक 20 115
श्लोक 21 116
श्लोक 22 118
श्लोक 23 127
लघुयोगभक्ति 129
श्लोक 1 129
श्लोक 2 137
श्लोक 3 138

योगिभक्ति प्रवचन

[प्रवक्ता- अध्यात्मयोगी पूज्य श्री 105 मनोहर जी वर्णी]

श्लोक 1

जातिजरोरूरोगमरणातुरशोक सहस्रदी पिता:,

दु:सहनरकपतनसंत्रस्तधिय: प्रतिबुद्धचेतस:।

जीवितम्बुबिन्दुचपपलं तडिदभ्रसमा विभूतय:,

सकलमिदं विचिन्त्य मुनय: प्रशमाय बनान्तयाश्रिता:।।1।।

योगसाधना- यह योग भक्ति है, इसमें योगी महापुरूषों की भक्ति की गई है। योग का अर्थ है उपाय अथवा लगना या जुड़ना। योग शब्द युज धातु से बना है जिसका अर्थ है लगना, जुड़ना उसी का रूप योजना है, जिसका भाव उपाय है। जबकि इस संसार में नाना दु:ख हैं और इसमें रंच संदेह भी नहीं है तब यह कर्तव्य होता है कि इन दु:खों की करतूत से तो हटें और जिसमें शान्ति मिले ऐसे पावन कर्तव्य में जुटें। खोटे उपायों से, संसार के यत्नों से हटकर मुक्ति के यत्न में जुटने का नाम योग है। जो ज्ञानी विरक्त संतपुरूष तत्त्व का निर्णय कर लेते हैं, अच्छी तरह से जब जान जाते हैं कि यह सारा संसार दु:खों से भरा है तब वे यहाँ से हटकर शान्ति के लिए कहीं वन में एकान्त में रहकर साधना किया करते हैं।

संसार में जन्म मरण का मूल क्लेश- संसार में अनेक दु:ख हैं और उन दु:खों का मूल दु:ख है जन्म और मरण। जैसे बाँस के पोर में, बीच में कोई कीडा़ बैठा हो और बाँस के दोनों तरफ आग लगी हो तो जैसे उस कीड़े को दु:ख है, उसे विवश होकर बरबाद होना पड़ रहा है इसी प्रकार समझिये कि भव के बीच में यह जीव है और भव के एक ओर तो जन्म की आग लगी है और एक तरफ मरण की आग लगी है तो जन्म और मरण की आग जिसे दोनों ओर छोर पर लगी है ऐसे भव के जीवन में पडा़ हुआ यह प्राणी नाना तरह से दु:खी होता है, बरबाद होता है। संसार का और स्वरूप है ही क्या? भव ग्रहण करते जाना। भव मायने पर्याय। जैसे मनुष्यभव, पशुभव,

पक्षीभव। तो इन पर्यायों को ग्रहण किया तो हुआ क्या? पहिले जन्म हुआ और अब मरण हुआ। तो जन्म और मरण के बीच में यह जिन्दगी है। तो जिस जीवन में पहिले तो जन्म की आग लगी है, बाद में मरण की आग लगी है, ऐसे बीच जीवन में जो जीव दु:खी होता है, संकट सहता है वह संकट बहुत विशाल संकट है। कितने जन्म लिये अब तक? अनन्त और अनन्त ही मरण हुए। तो अनन्त जीवन पाये, उन जीवनों में बहुत से सुख भोगे, साम्राज्य भोगे, बडे नायक बने, बड़ा महत्त्व पाया। पर उन अनन्त भवों के सुख में से किसी भी भव का सुख आज साथ है क्या? वे सब ऐसे गुजर गये जैसे कि हुए ही न हों। तो ऐसे ही इस भव में जितना जीवन है उसमें जो कुछ पाया है यह सारा सुख ये सब सुख ऐसे ही हो जाते हैं कि जैसे हुए ही न थे।

मोहियो की स्ववश वेदनासहन में कायरता- यह जीव विवश होकर तो सब कुछ सह लेता है पर स्ववश कुछ सहन नहीं करना चाहता। पशु बनता है, बोझा ढो लेना पड़ता है, मारपीट भी सहते हैं, सब दु:ख सह लेते हैं और उन्हें क्या कहें, मनुष्य भी परवश होकर सब दु:ख सह लेता है। कभी भोजन न मिला तो एक दो दिन भी भोजन बिना रह लेते हैं और भूख सह लेते हैं। एक बार हम एक बडे कस्बे में गये तो वहाँ एक स्कूल में हमें ठहराया गया। वह स्कूल बंद हुए कोई 13 दिन हुए थे, सभी किवाड़ बंद कर दिये गए थे, जब हमारे ठहरने के लिए दो चार कमरे खोले गए तो एक कमरे में से एक कुत्ता निकला, जिसका पेट भूख प्यास के मारे बिल्कुल सुख गया था, मात्र हड्डियाँ शेष रह गयी थीं, पर वह जीवित था। तो वह कुत्ता बिना खाना पीना के किस तरह रहा होगा? लेकिन मुसीबत आ जाने पर वह कुत्ता मुसीबत सहता रहा। तो जब मुसीबत आती है तो सब बातें सह ली जाती हैं। कई दिन तक भूख भी सहनी पडे, दूसरों के अपमान भी सहने पडे, मन के विरूद्ध अनेक बातें हों, उन्हें भी सहना पडे, पर यह मनुष्य राजी होकर, स्वयं उसे तपश्चरण मानकर सहन करने को तैयार नहीं होता। जैसे बतलावो दिन में दो बार भोजन कर चुकने के बाद फिर बार-बार भोजन करने की जरूरत क्या। बार-बार भोजन करते हो क्या जिन्दा रहने के लिए या शरीर पुष्ट रखने के लिए? पर कहा जाय कि दो ही बार भोजन करना चाहिये, सुबह जल्दी कर लिया और शाम को सूर्यास्त के पहले कर लेना चाहिये। इससे रात भर पेट को विश्राम तो मिलेगा स्वास्थ्य तो सुधरेगा, पर अनेक लोगों को यह बात भी बहुत कठिन मालूम होती है कि घर में सब प्रकार के साधन हैं। अभी इतने आराम के साधन न होते तो सब बातें सह ली जातीं।

सम्यक् अवबोध और आचरण की कला की आवश्यकता- अनेक प्रकार के आराम के साधन पाकर संयमचारित्र का पालन नहीं किया जा पा रहा। यह तो एक बात कही है। वैसे तो जीव का जैसा उदय है, जैसा भवितव्य है, जैसा उनका परिणमन है, होता है औरों पर दृष्टि देने से क्या

लाभ है? प्रकरण आने पर कहा है, मगर खुद अपने आपको कल्याण की बात सोचना चाहिये। जगत् में कोई किसी का सहाय नहीं है। कितने ही आराम के साधन हों पर उन साधनों में आसक्त होकर इस जीवन को व्यर्थ में न खो दें, किन्तु संयम का, चारित्र का, सावधानी का जरूर यथाशक्ति यत्न करना चाहिये। पर जिसमें जैसी बुद्धि है वह वैसा करता है। अब भी बडे-बडे घरों में स्त्री पुरूष सभी बडे संयम से रहते हैं। इन बडे-बडे आराम के साधनों को पाकर भी इस जीवन को व्यर्थ में खो देने पर कुछ भी तत्त्व हासिल न होगा। अगर सम्पदा पायी है तो मनमाने स्वच्छन्द होकर असंयम से रहना और प्रभुस्मरण में मन न लगना- यह बात तो इस जीव के लिए भली नहीं है। यह संसार समस्त दु:खों से भरा हुआ है।

अनित्य समागम और सुखभ्रम- इस लोक में एक को दूसरा दु:खी नजर आता है, मगर स्वयं ही स्वयं की बात जान सकते हैं। भले ही 24 घंटे में कुछ समय ऐसा मिलता है कि जहाँ हँसते भी है, खुश भी होते, कुछ मौज भी होती है, पर अनेक बार ऐसा भी होता है कि शोक करना पड़ता है, झुँझलाहट होती है, गुस्सा करना पड़ता है, बुरा लगता है, दूसरे लोग सुहाते नहीं है। तो क्या इनमें प्रकट कष्ट नहीं है? और फिर वर्ष में या कभी अचानक कोई घटना घट जाय, उपद्रव आ जाय, धन जन पर लुटेरों द्वारा आक्रमण हो जाय तो कितना क्लेश होता है? सुख में मस्त रहने वाले लोगों को बहुत अधिक दु:खी होना पड़ता है। सुख में जो जितना अधिक मस्त रहेगा उसे उतना ही अधिक दु:खी होना पड़ेगा। सम्यग्दृष्टि पुरूष में और कला है क्या कि जब तक संसार में है तब तक भी वह शान्त है, सुखी है और संसार (भव) नष्ट हुआ तब तो अनन्त आनन्द है ही। उस सम्यग्दृष्टि पुरूष में कला क्या है? यही भेदविज्ञान की तत्त्वज्ञान की कला है जिसके बल पर वह सदा आनन्दमय रहता है। ये सब पदार्थ अनिन्य हैं ना? सभी नष्ट होंगे कि कोई रहेगा भी सदा? उदाहरण देकर बतलावो अच्छा? जिस किसी पुरूष के पास वैभव रहा उसे या तो स्वयं उस वैभव को छोड़कर जाना पडा, या वैभव ही उसके जीवन काल में नष्ट हो गया। तो समागम जितने भी हैं ये सब विनाशीक हैं और अनित्य हैं।

सम्यग्ज्ञान का जीवन पर प्रभाव- भैया ! इस जीवन में पहिले से ही यह मान लें, निर्णय कर लें कि जो समागम हैं वे तो मिटने ही वाले हैं। ये भी मिटने वाले हैं, इनका भी वियोग होने वाला है, यदि यह ज्ञान पहिले से ही बना रहेगा तो जब उन समागमों का विछोह होगा तो इतना अधिक विह्वल नहीं होना पड़ेगा। जैसे कोई पुरूष साल दो साल से बीमार है, सभी लोग यह जान गये कि बस यह तो चंद दिनों का मेहमान है, तो उसके मरण होने पर उन लोगों को अधिक विह्वल नहीं होना पड़ता, क्योंकि उसके प्रति पहिले से ही सभी लोगों का यह ज्ञान बना था कि यह तो अब थोडे ही

दिनों में खत्म हो जायगा। और अगर किसी ऐसे पुरूष के मरण का समाचार मिल जाय जिसके मरण की अभी कोई आशा ही न थी। जो अभी बिल्कुल जवान था, तो ऐसे जवान व्यक्ति की मृत्यु पर लोगों को अधिक विह्वल होना पड़ता है, क्योंकि उसके प्रति पहिले से ही ऐसा ज्ञान नहीं बनाया गया था कि यह तो अब थोड़े ही दिनों में मिटने वाला है। यहीं की बातें आप देख लो- विवाहकाज के अवसर में मालिक हजारों रूपये की बारूद फूँक देता है, उसके प्रति उसे रंच दुःख नहीं होता, क्योंकि उसके प्रति पहिले से ही उस मालिक का ऐसा ज्ञान बना हुआ था कि यह तो फूँकने वाली ही चीज है, अभी थोड़े ही समय बाद जलकर खत्म हो जायगी। और अगर उसी मालिक का कोई एक दो रूपये का गिलास फूट जाय या खो जाय तो उसके प्रति वह बड़ा दुःख मानता है। तो मूल में बात यही है कि जिस चीज के प्रति पहिले से ही ऐसा ज्ञान बना हुआ है कि यह तो मिटने वाली चीज है, किसी दिन मिट जायगी तो उसके मिटने पर इस जीव को अधिक दुःखी नहीं होना पड़ता, और जिस चीज के प्रति पहिले से ऐसा ज्ञान नहीं बनाया गया है कि यह तो मिटने वाली चीज है, किसी दिन मिट जायगी, तो उसके मिटने पर इस जीव को बहुत दुःखी होना पड़ता है। तो संसार के समस्त समागमों के प्रति अपना ज्ञान पहिले से ही ऐसा बनाये रखना चाहिये कि किसी न किसी दिन इन समस्त समागमों का विछोह अवश्य होगा, ये मेरे नहीं हैं, ये तो मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, इस प्रकार का ज्ञान यदि पहिले से ही बना रहेगा तो इनके विछोह के समय अधिक दुःखी न होना पड़ेगा। यहाँ के समागमों को पाकर भी सुखी रहना अथवा दुःखी रहना यह अपने ज्ञान पर निर्भर है। सिवाय ज्ञान के इस जीव का कोई साथी नहीं है। तो ज्ञान बिना इस जीव का कुछ भी श्रृंगार न बनेगा। ज्ञान से ही इस जीव की शोभा है। ज्ञान बिना तो इस जीव को शान्ति प्राप्त होना भी असंभव बात है।

संसार में जन्म जरा मरण रोग का कठिन क्लेश- भैया ! यह ध्यान में रहे कि यह संसार दुःखों से भरपूर है। जहाँ जन्म मरण का तांता लगा है। उस कीड़े की भांति जो कि एक बांस के बीच में भिड़ा हुआ है और बांस के दोनों तरफ आग लगी है। तो जैसे वह कीड़ा उस बांस के अन्दर घुल घुलकर मरता है ऐसे ही इस जीवन के ओर में तो जन्म की आग लगी है ओर छोर में मरण की आग लगी है, इन जन्म और मरण इन दोनों के बीच में रहने वाला जीव कहां सुखी है?। यहां भी नाना प्रकार के दुःख हैं? एक जीव का दुःख दूसरे जीव के दुःख से मिलता-जुलता नहीं है। करीब करीब सबके दुःख एक समान हैं फिर भी उनमें अन्तर पाया जाता है। अहो यहां जन्म का दुःख, मरण का दुःख, बुढ़ापे का दुःख ये कितने कठिन दुःख हैं। बुढापे में बडी झुँझलाहट होती है जबकि बचपन तो अच्छी तरह व्यतीत हुआ, जवानी में खूब कमाई की, बड़ा वैभव जोड़ा, अनेक नौकर चाकर मित्रजन बडी सेवा में रहे, घर के पुत्रादिक भी बडे विनम्र और आज्ञा की प्रतीक्षा में

खड़े रहने वाले रहे, बहुत समय गुजर गया, अब बूढे हो गये, शरीर अत्यन्त शिथिल हो गया, दूसरों के सहारे रहने लगे, भोजन भी उठाकर खा नहीं सकते, खुद खड़े भी नहीं हो सकते, खुद चल नहीं सकते, तो जिन्होंने जीवन में ज्ञान, ध्यान, संयम, भजन, धर्मध्यान कुछ भी नहीं किया उन्हें कितनी अपने पर झुँझलाहट आती होगी? कितना वे कष्ट का अनुभव करते होंगे? तो बुढापा भी जन्म मरण की तरह बड़ा कष्टकारी है और रोग तो सभी के कोई न कोई लगा है। कितना ही अच्छा शरीर हो पर किसी न किसी प्रकार का रोग जरूर शरीर में मिलेगा विभावों के रोग की बात नहीं कह रहे, शरीर के अन्दर किसी न किसी प्रकार का रोग सबमें मिलेगा। करोड़ों प्रकार के रोग हैं, और जब कोई रोग कुछ प्रचण्ड होता है, श्वास का रोग हो, जुखाम है, खांसी है, बुखार है, पेट दर्द है, दिल की कमजोरी है, रक्तचाप है, आदिक इन सब रोगों से कैसी पीड़ा होती है? वह रोगी ही जानता है।

योगियों के एकान्त के आश्रय का औचित्य- अनेक प्रकार के दु:ख इस संसार में दिख रहे हैं। उनसे जो हजारों लाखों शोक उत्पन्न होते हैं उससे जो सावधान हुए हैं, उनके विजयी बने हैं, उन सबको यथार्थ समझते हैं और ऐसी ही बातें जिन पर बहुत गुजरी हैं ऐसे पुरूष अब यहां दु:ख के समागम में नहीं रहना चाहते। यहां से हटकर आत्मशान्ति के लिए वन में एकान्तस्थान का आश्रय लेते हैं, वहां आत्मसाधना करते हैं। जैसे जब किसी पुरूष को सताने वाले, आक्रमण करने वाले, घर के हों, बाहर के हों, कोई भी हो तो वह उन सबसे घबड़ाकर चिल्ला उठता है तो वह किसी प्रकार उनसे पिन्ड छुटाकर किसी जगह एकान्त में बैठकर सन्तोष की सांस लेता है। झंझट से निकले। ऐसे ही समझिये कि वे गृहस्थ पुरूष जो गृहस्थी में बसकर अनेक आक्रमण सहते हैं, अनेक प्रकार के उपद्रवों में आना पड़ता है, निरन्तर शोक के साधन ही जुटाये रहा करते हैं, उन सब झंझटों से ऊबकर जब तत्त्वज्ञान मिलता है और अपने आपमें साहस जगता है, हिम्मत बनायी जाती है, ममता तोड़ दी जाती है तो उन झंझटों के समागमों से निकलकर किसी वन के एकान्त प्रदेशों में ठहरकर आत्मदर्शन करके वे संतोष पाते हैं, लो अब छूटे हम झंझटों से।

साधुवों की द्विजता- साधु का नाम द्विज भी है। अब तो लोग द्विज नाम ब्राह्मण का कहते हैं, पर द्विज नाम है वस्तुत: साधु का। द्विज मायने दूसरी बार जन्म होना। साधु हो जाने कानाम हैदूसरा जन्म लेना। कैसे? पहिले गृहस्थी में रहकर नाना विकल्प उलझनों में रहकर जो दु:ख भोगे, जो संस्कार बनाये, जो भी झंझटें रखीं। तत्त्वज्ञान होने पर वैराग्य होने पर जब साधु दीक्षा ले ली जाती हैतो वे सबके सब झंझट ऐसे समाप्त हो जाते हैं जैसे कि ख्याल ही न हो, इस पर गुजरे ही न हों। और इस बात को इस दृष्टान्त से समझ लें कि जैसे हम इस भव से पहिले भी कभी किसी

भव में थे, कल्पना कर लो मनुष्य थे, किसी देश में थे, अच्छे परिवार में थे, कितने मित्र थे, कितना भला था; सब कुछ था, लेकिन वहाँ से गुजर कर आये, यहाँ दूसरा जन्म पाया, इस भव में आये तो इस जन्म के पाने के बाद पुराने जन्म की बात कुछ भी याद है क्या? पुराने जन्म की किसी घटना से दु:ख हो रहा है क्या? क्यों दु:ख नहीं हो रहा? दूसरा जन्म हो गया। तो इसी प्रकार एक ही भव में दूसरा जन्म कहलाता है साधु होने का नाम। जब किसी की शादी होती है तो भांवर पड़ते समय वे दोनों स्त्री पुरूष 7-7 वचन बोलते हैं कि ये वचन तुम्हें जीवनभर निभाने पड़ेंगे। दोनों ही हाँ करते हैं। जब वे जीवनभर सातों बातें निभाने का एक दूसरे को वचन दे देते हैं तब सातवीं भांवर फिरती है और वे पति पत्नी कहलाते हैं। उन वचनों में कोई वचन ऐसा भी है कि तुमको जीवनभर हमारा रक्षण करना होगा। पर उनमें से यदि पति साधु दीक्षा ले ले या पत्नी आर्यिका की दीक्षा ले ले तो उस समय तो कोई यह न कहता कि वाह ! तुम लोगों ने तो एक दूसरे से जीवनभर रक्षणादि के वचन दिये थे और अब यह क्या कर रहे? अरे वे अब वह पति पत्नी नहीं हैं जो पहिले थे। उनका तो दूसरा जन्म हो गया। जैसे हम आपने अबसे पहिले भव में जिन जिनके वायदे किये हों, जिससे जो कुछ भी बात की हो, मरण के बाद क्या यहां कोई कहता है कि तुम तो ऐसा-ऐसा कह आये थे कि हम तो घर में रहेंगे, घर छोड़कर न जायेंगे और अब उठकर चल दिया। अरे नया जन्म पाया है। तो साधुवों में भी नवीन जन्म है तभी तो गृहस्थी का कोई संस्कार नहीं रहता। भला ऐसा सुकुमार पुरूष जो सेज पर पडे और यदि कोई रूई का बिनोला पड़ा हो अथवा सरसों का दाना पड़ा हो तो वह भी जिसे न सहा जाय और ज्ञानी विरक्त साधु हो जाने पर कंकरीली जमीन पर एक करवट में रहते हैं, उनको अब दु:ख महसूस नहीं होता। क्यों? एक घंटे में क्यों बदल गयी? अरे अब तो उसका जन्म ही बदल गया। इसका नाम है द्विज। तो अब ये ज्ञानी गृहस्थ पुरूष उस दु:खमय वातावरण से निकलकर एक शान्ति के जीवन में आ रहे हैं, नए जीवन में आये हुए हैं। इसी का नाम है योग। दु:ख के काम से हटकर शान्ति के यत्न में जुटने का नाम है योग। ऐसा योग जो धारण करते हैं उन्हें कहते हैं योगी। ऐसे योगी पुरूषों की इसमें भक्ति की जा रही है। वे ही पुरूष जो संसार को दु:खमय जानकर और वैसा ही परिचय पाकर अब वहां से हटकर शान्ति के लिए एकान्त वन में पहुंचे हुए हैं।

दु:सह नरकवेदना के कारणभूत नरकायु के आस्रव का वर्णन- जिस भव्य पुरूष का संसार निकट आ गया है। अन्त की अपेक्षा भी निकट होता है और आदि की अपेक्षा भी निकट होता है। संसार निकट होने के मायने संसार का आखिरी समय पास आ गया है, ऐसे भव्यजीव को वस्तुस्वरूप यथार्थ ज्ञान होता है और वह सर्वयोग से सर्व ढंगों से आत्महित के चिन्तन की ही बात किया करता है। जब उनका वैराग्य बढ़ता है तो वे अब परिग्रहों का त्यागकर शान्ति के लिए एकान्त

वन का आश्रय करते हैं। उन्होंने जाना कि संसार में जन्म बुढा़पा, मरण रोग आदिक अनेक क्लेश ही क्लेश हैं। इनमें रूचि करने में सार नहीं। इन सब क्लेशों से रहित जो आत्मा का शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है उसकी रूचि करने में लाभ है। तो वे पुरूष संसार के स्वरूप को जानकर और साथ ही कठिन जो नरक में पड़ने का काम है उससे उनकी बुद्धि परेशान हो गयी। वे नरकों के दु:ख का चिन्तन करके अब और विशेषरूप से इस बात पर दृढ़ हो गये कि संसार जाल में, मोह जाल में फँसना योग्य नहीं। नरक आयु के आस्रव का कारण बताया है। बहुत आरम्भ और परिग्रह करना, इसमें सभी खोटी बातें सम्मिलित हो गई- पापों में अधिक आसक्त होना, विषयों में लीन होना, दूसरों को खुश करने की चेष्टा करना आदिक। कोई निष्पक्ष ज्ञानदृष्टि से निहारें तो उसे यों दिखेगा कि ये व्यामोही धनिक लोग बडे दु:खी हैं। एक तो बड़ा दु:ख यह है कि उनकी बुद्धि विपरीत हो गयी है, यथार्थ बात समझने की सुधि नहीं है, अवकाश नहीं है, क्या लाभ हुआ इस मनुष्यजन्म को पाकर? प्रभुभजन तत्त्वचिन्तन, साधुसेवा, साधर्मीजनों की संगति आदिक इन समस्त कामों से उन्हें पहिले ही छुट्टी मिल गयी। वे अब कहां रहते हैं, किन-किनकी गुलामी करते हैं, उन सबकी बात बहुत विलक्षण है। कोई विवेकी पुरूष यदि दो चार दिन भी उनके पास रहकर देख ले तो वह सारा नक्शा खींच लेगा कि ये तो बडे दु:खी हैं। तो इस जगत में बहुधंधी होना, बहुपरिग्रही होना ये नरकआयु के आस्रव के कारण है।

नरकस्थान और नरकों में जन्म- नरकगति तो बड़ी विचित्र कहानी है। नरक क्या है? एक भूमि है। 7 नरक हैं, उनकी 7 न्यारी न्यारी भूमियां है। एक भूमि में भीतर ही भीतर बहुत लम्बे चौड़े बिल बने हैं तो वे लाखों, करोड़ों, असंख्याते योजनों के हैं। लेकिन उनका मुख किसी ओर नहीं है। पृथ्वी के भीतर ही भीतर पोल हैं। इस कारण वे बिल कहलाते हैं। जैसे एक फुट लम्बी, एक फुट चौडी़ और एक फुट गहरी लकड़ी में भीतर ही भीतर 10-5 छिद्र हों, पर चारों तरफ से देखने पर मुख भी वे छिद्र उस लकड़ी में नहीं दिखते इसी प्रकार उन बिलों के भी पृथ्वी में किसी ओर नहीं बने ऐसे तो उन नारकियों के रहने के स्थान हैं, सो उस बिल का जो ऊपरी भाग है, जो जीव नरक में जाता है उसमें तिरछे टेढ़े मेढे, घंटाकार बुरे मुख वाले ऐसे कई स्थान बने हैं। जो जीव नरक में जाता है, उस स्थान में जन्म लेकर नीचे गिर जाता है, यही जन्म कहलाता है। देखो देवों का भी जन्म बिना माता पिता के है और नारकियों का भी जन्म बिना माता पिता के होता है पर देव तो उत्पादशय्या पर बच्चे की तरह लेटे हुए उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु उन नारकियों का जन्म ऐसा होता है कि उन घंटाकार आदिक विचित्र आकार वाले स्थानों से सिर के बल नीचे टपक पड़ते हैं ऐसा तो उनका जन्म का विधान है और पृथ्वी पर गिरने पर वे सैकड़ों बार उछलते हैं, गिरते हैं गेंद की तरह।

जन्मने वाले नारकी पर चारों ओर से नारकियों का आक्रमण- वे नारकी जीव जब पैदा होते हैं तो उस समय वहां रहने वाले नारकी जीव उन पर टूट पड़ते हैं, उनके तिल तिल बराबर खण्ड कर डालते हैं। पर वे टुकड़े फिर पारे की तरह मिल जाते हैं और फिर उन नारकी जीवों की वही हालत होती है। जैसे यहां पर देखा होगा कि किसी दूसरे गाँव का कोई कुत्ता आपके गाँव आ जाता है तो आपके गाँव के बहुत से कुत्ते मिलकर उस कुत्ते पर टूट पड़ते हैं और उस कुत्ते को हैंरान करते हैं, इसी प्रकार वे बहुत से नारकी जीव उस आये हुए नए नारकी जीव पर टूट पड़ते हैं और उसके खण्ड-खण्ड कर डालते हैं। यह तो उनकी बड़ी विकट कहानी है।

नरक की पृथ्वी के स्पर्श का क्लेश और नरकदेह की विक्रिया से सुलाभ शस्त्रप्रहार का क्लेश- अब और भी नारकियों के दु:ख की कहानी सुनो- वे नारकी जीव जब जमीन पर आते हैं तो उस जमीन को छूनेमात्र से हजारों बिच्छुवों के डंक मारने की वेदना होती है। इस बात का अंदाज आप यहीं कर सकते हैं। जैसे जब कभी बिजली का तार टूट जाता है और बिजली का करेन्ट दीवाल में आ जाता है तो उसके छूने मात्र से बिच्छू के डंक मारने जैसी वेदना होती है, वहाँ से लोग दूर भाग जाते हैं और अगर न भगें तो वहाँ प्राण भी जा सकते हैं। तो यह बिजली भी क्या है? उन नरकों की भूमि जैसी ही तो है, उनमें कैसे तेज आ गया? तो यह बात नरक की पृथ्वियों में प्रकृत्या पायी जाती है। तो उन नारकी जीवों को वहाँ की भूमि का स्पर्श करने मात्र से हजारों बिच्छुवों के डंक मारने जैसी वेदना होती है और भी कहानी सुनो। उन नारकी जीवों को दूसरे नारकी जीव के मारने के लिए शस्त्र कहीं अलग से नहीं लाने पड़ते। उनका शरीर ही ऐसी विक्रिया वाला है कि करौती, बसृला, चाकू आदि जिस चीज से मारने की इच्छा हुई कि उनके हाथ स्वयं उस शस्त्ररूप बन जाते हैं। जो यह वर्णन आता है कि नरक में किसी नारकी को चारों तरफ से साँप खाते हैं, बिच्छू खाते हैं तो वहाँ कहीं साँप बिच्छू आदि अलग नहीं हैं। वे ही नारकी जीव सर्प बिच्छू आदिक बन बनकर दूसरे नारकी जीवों को कष्ट दिया करते हैं।

नरकायु की अनिष्टता- नारकियों को इतना दु:ख भोगना पड़ता है कि वे नारकी जीव यह नहीं चाहते कि मैं जिन्दा रहूं, जबकि मनुष्य और तिर्यंच ऐसा चाहते हैं कि मैं मरूँ नहीं। चाहे कैसी भी परिस्थिति आय। कोई बुढ़िया है बहुत हैरान है, चल फिर भी नहीं पाती, बच्चे लोग भी कोई पूछते नहीं हैं तो वह प्रतिदिन हाथ जोड़कर भगवान से विनती करती है कि हे भगवन तू मुझे उठा ले, मैं बड़ी दु:खी हूं। उसी बुढ़िया के निकट कदाचित् निकल आये सर्प तो वह चिल्लाकर बच्चों को, पोतों को पुकारती है- अरे दौड़ों बेटा, मुझे बचावो, देखो सांप बाबा निकला है और अगर कोई

बच्चा यह कह बैठे कि ऐ बुढ़िया दादी, तू तो रोज रोज भगवान से विनती करती थी कि ऐ भगवान मैं बहुत दु:खी हूं, तू मुझे उठा ले, तो तुम्हारी विनती सुनकर भगवान ने तुम्हें उठाने के लिए यह दूत भेजा है, तुम क्यों डरती हो? तो यहां कोई मरना नहीं चाहता। नारकी जीव चाहते हैं कि मेरा मरण हो जाय पर मरते नहीं हैं, तिल तिल बराबर उनके खण्ड हो जाते हैं फिर भी पारे की तरह फिर मिल जाते हैं, तो ऐसी दशा उन नारकियों के मारपीट की है। खुद मरते हैं और मारते हैं।

नरकों में ठंड का विकट क्लेश- और भी नारकियों के दु:खकी बात देखिये-छहढाला में बताया है कि नरकों में इतनी गर्मी है कि वहाँ मेरू के बराबर भी लोहपिण्ड हो तो वह भी गल जाता है। अब समझ लीजिये कि नरकों में कितनी गर्मी होती है। इसी प्रकार ठंड की वेदना भी वहाँ बड़ी कठिन है। नरकों में ठंड ऐसी है कि कोई लोहे का मेरूपर्वत के बराबर भी पिण्ड हो तो वह भी ठंड के मारे गलकर चूर-चूर हो जाता है तो इतनी विकराल ठंड की वेदना भी ये नारकी जीव सहते हैं। नरक की उन वेदनाओं का चिन्तन जब कोई ज्ञानी जीव करता है तो उसकी बुद्धि संत्रस्त हो जाती है, अहो क्या रखा है इस संसार में? विषयों की प्रीति का यह फल है, आत्मा की सुध बिसारने का अज्ञानभाव में लगे रहने का, मोह करने का यह फल है, ऐसा उस ज्ञानी जीव को जब बहुत-बहुत उपयोग में आया तो बुद्धि संत्रस्त हो जाने से उस गृहस्थी में टिकने की सामर्थ्य नहीं रखता। सकल परिग्रहों का त्यागकर एकान्त वन का आश्रय करता है। किसलिए? शान्ति के लिए। ये सब क्लेश हैं। ये सब क्लेश कैसे दूर हों, उनका उपाय खोजता है। वह ज्ञानी पुरूष जिस समय अपने उपयोग को बाहर से उठाकर एक अपने आपकी ओर लगाता है, जिस समय यह आत्मा ऐसे आनन्दमय ज्ञानस्वरूप की ओर दृष्टि करता है उस समय उसे न संकट है, न संकट के साधन उसे नजर आते हैं। ऐसे सुगम उपाय को जिसने पहिचान लिया ऐसा तत्त्वज्ञानी पुरूष आत्मसाधना के लिए परमार्थ एकान्त स्थान का आश्रय करता है ताकि विषयों का साधन न रहे। तो आश्रय नहीं रहने से, नौकर्म न रहने से ये कर्मोदय भी नहीं होते और उनको एक विशुद्ध मार्ग में बढ़ने की प्रेरणा मिलती है जिससे वे अपनी इस शान्ति के धाम में अधिक देर तक टिक सकते हैं।

योग शब्द का लोकव्यवहार में भी प्रयोग होता है। जैसे जे कोई विचार चलता है कि अमुक कार्य करना चाहिये तो कहते हैं ना, इसका जोग तो लगा ही लो तो जोग के मायने हैं कार्य सिद्ध करने का उपाय। सर्व श्रेष्ठ कार्य कौनसा है जो सिद्ध किया जाना चाहिये, जिसकी सिद्धि होने से हम आप जीवों में फिर कोई कष्ट नहीं रहेगा, ऐसा कौनसा काम है? खूब सोच लीजिये। एक जीवन में अच्छी तरह खा पीकर आराम से रहकर पलंगों पर सोकर बड़ी प्रशंसा के बीच रहकर जीवन गुजार लिया, पर इतने से तो काम न बनेगा। इसके बाद भी तो कहीं जन्म लेना होगा, फिर

क्या हाल होगा? एक नौकर राजा के यहां पलंग सजाया करता था। एक दिन नौकर के मन में भी आ गया कि मैं राजा का पलंग बहुत दिनों से सजा रहा हूं, इस पर राजा जी सोते हैं, आज इस पर एक दो मिनट लेट कर हमें भी देखना चाहिए कि इसमें कितना आराम मिलता है? तो ज्यों ही वह लेटा कि दो मिनट में ही उसके निद्रा आ गयी। वह सो गया। राजा आया तो उस नौकर को खूब बेंतों से पीटा। इतने पर भी वह हँस रहा था। राजा ने उसके हँसने का कारण पूछा तो नौकर ने कहा कि हमें इस बात की हँसी आती है कि हम तो दो चार मिनट को इस पलंग पर लेट गए तब तो कोड़ों से पिटे, और हमारा राजा तो इस पर बहुत दिनों से सो रहा है उसकी न जाने क्या हालत होगी? तो इस जीवन को खूब आराम-आराम में ही बिताना योग्य नहीं। हां इतना तो ठीक है भूख प्यास, ठंड गर्मी, रोग आदि की वेदनायें ऐसा अधिक सता न सके जिससे कि हम अपनी सुध भूल जायें, सो उनकी व्यवस्था कर ली जाय, पर इस शरीर को बहुत-बहुत आराम देने की जो बातें चलती हैं वे सब बेकार हैं। इस आराम के फल में तो बहुत कष्ट भोगना होगा। इस आराममयी जीवन से आत्मा का कुछ भी उत्थान न होगा।

वैषयिक सुख की प्रचुरता वाले भव से आत्मोत्थान की अशक्यता- देवगति में और भोगभूमियाँ मनुष्यतिर्यंचों में देखो- कोई स्थूल कष्ट नहीं है। भोगभूमि में इष्टवियोग नहीं, जब बच्चे पैदा हुए तो मां बाप गुजर गए। वियोग काहे का? वियोग तो तब हो जब वे माँ बाप उन बच्चों का मुख देख लें और बच्चे भी अपने मां बाप का मुख देख लें। तो भोगभूमियां जीवों में सब प्रकार के आराम के साधन हैं। देवगति के जीवों में उनके कंठ से अमृत झर जाता है और भोगभूमियां जीवों के यदि दो तीन चार दिन में भूख लगती है तो वहाँ मनमाने कल्पवृक्ष हैं, उनको कोई कष्ट ही नहीं है। सब प्रकार के आराम हैं और कर्मभोगियाँ जीवों के जीवन में दु:ख ही दु:ख भरे हैं। तो इस दु:ख का बड़ा उपकार है। कर्मभूमियां मनुष्यभव के जीवन में दु:ख लगे रहते हैं उस जीवन से उत्थान संभव है। मुक्ति संभव है। तो ये ज्ञानी संतजन इन संकटों से छूटने के कार्य का योग लगा रहे हैं। संसार को दु:खमय जानकर उससे विरक्ति आयी और बड़े दु:सह जो कठिनता से सहे जा सकते हैं ऐसे नरकों के दु:खों के चिन्तन से जिनकी बुद्धि संत्रस्त हो गयी है और इसी कारण कुछ आत्मस्पर्श से जिनका चित्त प्रसन्न हो गया है ऐसे ये योगी पुरूष आत्मशान्ति के लिए वन का आश्रय लेते हैं।

प्रबुद्धचेता आत्मार्थी पुरूष का जीवन की चपलता के सम्बंध में चिंतन- जब तक मन की शल्य नहीं हटती, मन में प्रतिबोध नहीं जगता, ज्ञानप्रकाश नहीं होता तब तक सन्मार्ग के लिए प्रेरणा कहां मिलती है? विषयों का जीवन क्या जीवन है? विषयों केसुख में चित्त में प्रतिबुद्धता नहीं है। वह केवल कल्पित मौज है और क्षोभ से भरा हुआ मौज है। उनका वास्तविक प्रसाद नहीं है। जिन्होंने

संसार को दु:खमय जानकर परमउपेक्षा की, संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर अपने आपके अन्त:विराजमान ज्ञायकस्वरूप कारणपरमात्मतत्त्व की रूचि की ऐसे आत्मार्थी जीव का चित्त प्रतिबुद्ध होता है। तो ऐसे प्रतिबुद्धचेता संतजन विचार कर रहे हैं कि अहो यह जीवन ओस के बूँद की तरह चंचल है। जैसे ओस की बूँद दिखने में मोती जैसी लगती है और वह कुछ सारभूत सी प्रतीत होती है, लगता है कि इनका हार बनाकर पहिन लें, पर क्या वह सारभूत चीज है? वह तो छूने से मात्र से अथवा पत्तों के जरासा हिलने मात्र से कान्तिहीन पानी बन जाता है, इसी प्रकार यह जीवन है जिसमें हम आप लोग जी रहे हैं। इसमें बड़ा आश्चर्य तो इस बात का होना चाहिये कि हम अभी तक जी रहे हैं। क्योंकि मरने का कोई आश्चर्य नहीं। मरण तो सभी का होता है। कोई गर्भ में ही मर जाता है, कोई उत्पन्न होने पर, कोई बड़ा बालक बनने पर, कोई जवान होने पर, कोई बूढा होने पर। तो मरने का कुछ आश्चर्य नहीं, आश्चर्य तो जीने का है। यह जीवन पानी का बबूला जैसा है। जैसे बरसात के दिनों में पानी में बबूले उत्पन्न हो जाते हैं तो लड़के लोग उन बबूले को देखकर आश्चर्य करते हैं जो अधिक देर तक ठहरे रहते हैं। उन बबूलों के मिटने में कोई आश्चर्य नहीं जो कि तुरन्त मिट जाते हैं। क्योंकि उन्हें तो मिटना ही है। तो मरते तो सभी हैं। इस मरने में कोई आश्चर्य नहीं, आश्चर्य तो जीवित रहने में है। यहीं देख लो- कीड़ा मकोड़ा, पशु पक्षी, मनुष्यादि सभी किसी न किसी बहाने से मरण को प्राप्त हुआ करते हैं। तो मरने का आश्चर्य नहीं, किन्तु जीवन जो बना है लम्बा कुछ थोड़ासा यह आश्चर्य की बात है।

आत्मलाभ के कार्य के उत्साह और यत्न की आवश्यकता- हम आप लोग अब तक जिन्दा हैं, आगे भी यहां कुछ कितना जिन्दा रहेंगे या नहीं इसका कुछ भरोसा नहीं। कितना समय है, इस जीवन में कितना उत्तम अवसर है। मन है विचार कर सकते, तत्त्वचिन्तन कर सकते, आत्मा की सुधि ले सकते। ऐसे अपूर्व अवसर को हम यों ही खो दें तो यह कितनी मूढ़ता की बात है। मन लगायें असार कामों में और यहां सारभूत काम के लिए उत्साह नहीं है, प्रेम नहीं है। जैसे कि घर के कामों को अपना काम समझा जाता है, जो कि अपने हैं भी नहीं, और यहां यह अपना काम है आत्मा की बात, आत्मा के स्वरूप का ध्यान, यहां दृष्टि लगाना, इसे अपना काम नहीं समझा जा रहा है और असार भिन्न मायारूप, जिनमें भलाई का नाम नहीं उनको समझा जाता कि ये मेरे काम हैं। यह जीवन ओस की बूँद की तरह चंचल है- अल्पस्थितिक है। थोडे समय में नष्ट होने को है। हम कुछ हित की बात कर लें तो यह मेरी भलाई की बात होगी।

वैभव की चंचलता का चिन्तन- योगीजन जो शान्ति के लिए एकान्त वन का आश्रय करते हैं उनका यह चिन्तन चल रहा है कि यह सारा वैभव बिजली के समान विनश्वर है, जैसे मेघों में बिजली

चमकती है तो वह ठहरती नहीं, चमकी नहीं कि खत्म, क्षणमात्र में ही नष्ट हो जाने वाली है, इसी प्रकार यह विभूति भी उस विद्युत् की तरह क्षणमात्र में नष्ट हो जाने वाली है और कुछ ठहर भी गया तो कितनी देर ठहरेगा। उसे यों समझ लो कि मेघों के समान चंचल है। जैसे मेघ थोड़ा ठहर गए और फिर यथाशीघ्र बिखर कर समाप्त हो जाते हैं इसी तरह यह वैभव भी थोडे काल ठहर कर बिखर जाने वाला है। तो ये सब समागम विद्युत् की तरह अथवा मेघ के समान अत्यन्त चंचल है। ये सब चिन्तन वे योगीजन कर रहे हैं जिनको अब संसार, शरीर, भोगों में प्रीति नहीं रही। प्रीति न रहने के ये सारे कारण इस छंद में बताये जा रहे हैं। ये सारे समागम एक शरीर के आराम के ही तो साधन हैं, आत्मा के आराम के साधन नहीं हैं और शरीर है सो यह जन्म जरा मरण रोगकर भरा हुआ है, भिन्न चीज है। उसके आराम के साधनों को जोड़कर हम अपने संकट क्यों मोल लें? हम अपने को संसार में क्यों रूलायें? अतएव इस दुष्ट शरीर के आराम के साधनों में जब प्रीति न रही तो अब उन साधनों में रहे कौन? और फिर कदाचित् शरीर के साधन बना लो, पर उसका फल तो बड़ा कठोर है। नरक जैसे दु:खों को भोगना पड़ता है। उसे अब इस शरीर के साधनों में रूचि नहीं रही।

योगियों का आत्मलाभ के योग का उद्यम- अब कुछ गहरा चिन्तन किया गया है कि इस चंचल वैभव के पीछे अपने जीवन को न खोवो और वह जीवन भी एक ओस बूँद की तरह क्षणस्थायी है। अब तो जितना शेष जीवन है वह जीवन एक आत्मा की सेवा में लगे इसी में भलाई है। इन समस्त बातों का चिन्तन करके मुनिजन आत्मशान्ति के लिए वन के अन्त में या ओर छोर किसी जगह में अब पहुंचे हैं, परमार्थत: तो वे अपने आपके स्वरूप के एकान्त में पहुंचे हैं, यही तो है एकान्त। जहां दृष्टि हटायी पर से और अपने आपमें देखा निज को कि यह तो स्वभावत: समस्त पदार्थों से विविक्त केवल ज्ञानस्वरूप यहीं तो विराजमान है। जिस प्रभु की खोज में जगह-जगह भटके, मंदिर-मंदिर, पर्वत-पर्वत देखा और इन आँखों को बड़ा कष्ट दे देकर निरखा, बडी़-बडी़ आशंकायें कीं पर वह साधन था, वह साक्षात् प्रभु न था। वह प्रभुता तो अब यहां समझ में आया, जिसके दर्शन के लिए मैं जगह-जगह भटका, खोजा। यह प्रभु तो लो यहीं बड़े सुख से है, अपने आपमें विराजमान है। लो इस प्रभु ने तो मेरे साथ बड़ी हँसी की। खुद में विराजमान है और मैं भटकता रहा। कुछ भी इसने न बताया कि अरे कहाँ ढूँढ़ते हो, मैं तो यहीं बैठा हूं। ओ प्रभु ने कहाँ हँसी की। मैं ही मूर्खता से स्वयं भूला भटका और नहीं पहिचाना कि यह प्रभु तो यहीं विराजमान है। उसही अंत:विराजमान प्रभु को निरखने के लिए बाहर में प्रभु के स्वरूप को निरखा जाता है। इस ममता समृद्धि से सम्पन्न स्वभावत: अविकारी इस ज्ञानस्वरूप के दर्शन करने में हित प्राप्त होता है, उसकी सिद्धि के लिए, इसमें उपयोग निरन्तर स्थिर रहे, इस ही निज प्रभु को निरख निरखकर तृप्ति बराबर बनी रहे, इस

कार्यसिद्धि के लिए अब इन ज्ञानी संतों ने जोग जुगत जुड़ाया है, एक साधन जुटाया है, उस ओर लग गए हैं, उनको रास्ता मिल गया है, इसलिए वे अपने आत्मरस के उपयोग में रहकर तृप्त हो रहे हैं और ऐसा संतुष्ट हो रहे हैं कि अपने आपमें समाये जा रहे हैं। इतना आनन्द बरस रहा कि वे अपने आपमें समा नहीं पा रहे हैं तो लबालब आनन्द से तृप्त होते हैं। यह है योगियों का वास्तविक योग। जिस उपाय के द्वारा उस अविकारी शुद्ध चैतन्य दशा की प्राप्ति होगी, जिसमें रहकर सदा के लिए सर्वसंकटों से मुक्ति प्राप्त होगी।

श्लोक 2

व्रतसमितिगुप्तिसंयुता: शिवसुखमाधाय मनसि वीतमोहा:।

ध्यानाध्ययनवशंगता विशुद्धये कर्मणां तपश्चरन्ति।।2।।

कर्मों की विशुद्धि के लिये योगियों का तपश्चरण- जो तत्त्वज्ञ पुरूष जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक से व्याप्त इस संसार से विरक्त होते हैं, इस जीवन को ओस बूँद की तरह चंचल जानकर इस समस्त विभूति को विद्युत् और मेघ के समान अस्थिर जानकर आत्मशान्ति के लिए वन में पहुंचे हैं और सर्वपरिग्रहों का त्यागकर निर्ग्रन्थ हुए हैं ऐसे ये महापुरुष वहाँ क्या करते हैं? उसका वर्णन इस छंद में किया गया है। देखो भैया ! एक दिन भी बेकार रहकर दिन काटना कठिन लगता है। यहां के लोगों को कोई काम न हो, हलुवा बैठे हों तो दिन बड़ा भारी मालूम पड़ता है, अब कितने बजे, अब कितना दिन रहा, यों दिन बड़ा महसूस होता है। लोग यों शंका कर सकते हैं कि घर छोड़ा, तृणमात्र भी साथ नहीं ले गए, केवल गात मात्र ही परिग्रह कह लीजिये, केवल शरीरमात्र है उनके साथ, अन्य कोई भी परिग्रह साथ नहीं है। वे मुनिजन जंगल में अकेले कैसे दिन काट लेते होंगे? शंका करने वाले लोग ऐसी शंका करते होंगे और यहाँ ये साधुजन इस तरह रहते हैं कि दिन रात के समय का वहां पता ही नहीं पड़ता कि कैसे निकल गए? क्या करते हैं वे वन में? वे कर्मों की विशुद्धि के लिए, कर्मों से दूर होने के लिए तपश्चरण करते हैं। यह बात ऊपर से सुनने में ऐसी लगती है कि 8 प्रकार के कर्म लगे हैं जीव के साथ, जिनके उत्तर भेद 148 और सही तौर से देखा जाय तो असख्ंयातों प्रकार के उत्तर भेद है। उन कर्मों को दूर करने के लिए गर्मी सर्दी सहना आदिक ऐसे घोर तपश्चरण करते हैं, ठीक है यह भी बात साथ-साथ लगी हैं पर अन्त: विचार करो तो वे रागद्वेषादिक जो कर्म हैं उन कर्मों को दूर करने के लिए पराश्रय को तजकर तत्त्वचिन्तन में लगते हैं ऐसा घोर तपश्चरण करते हैं, ठीक है यह भी बात साथ-साथ लगी है पर और अन्त: विचार

करें तो वे रागद्वेषादिक विकल्पवितर्कविचारादिक जो कर्म हैं उन कर्मों को दूर करने के लिए अपने चैतन्यस्वरूप में प्रतपन कर रहे हैं।

कर्म, विशुद्धि और तपश्चरण- कर्म नाम तो असल में रागद्वेषभाव का ही है। क्रियते इति कर्म। जो किया जाय सो कर्म है। आत्मा के द्वारा क्या किया जाय? आत्मा की ही कोई परिणति और करने का जहां नाम लिया है वहां अधिकार है अशुद्ध परिणति का नाम लेने का तो वहां क्या किया जा रहा था इस संसार में? रागद्वेष भाव। उनके शोधन के लिए। देखिये शोधन शब्द भी यहाँ भी ठीक बैठता। इस औपाधिक भाव को दूर करना और अपने में शुद्धज्ञातृत्व लाना, यही है आत्मशोधन और ऐसा यहां किया जा सकता है। तो उन कर्मों के शोधन के लिए वे अपने चैतन्यस्वरूप में स्थिर होने रूप परम तपश्चरण करते हैं। चैतन्यस्वरूप में अपनी दृष्टि और उपयोग को स्थिर करे, इसमें प्रतपन होता है। अभी लोग बहुत से धर्मकार्य करने के लिए जब चिन्तन करने बैठते हैं, मन को प्रभुस्वरूप में लगाना चाहते है, आत्मस्वरूप में लगाना चाहते हैं तो कुछ थोड़ासा तो चलते हैं, पीछे घबड़ाने लगते हैं, फिर चित्त वहाँ से उचट जाता है, तो मालूम होता है कि निज में अवस्थान करने का काम भी बड़ा तपश्चरण का काम है। तो ये योगीश्वर वन में जाकर कर्मों के विनाश के लिए तपश्चरण कर रहे हैं।

योगियों की अहिंसामहाव्रतसंयुतता- उनका वहां अन्तर्बाह्य स्वरूप क्या बन रहा है? अब वे किस ढंग में रह रहे हैं? गृहस्थी में तो पता था कि वे किस ढंग में रहा करते थे, अब साधुअवस्था में आकर किस ढंग से चल रहे हैं। तो उनका प्रोग्राम, उनकी क्रिया, उनकी करतूत तेरह अंगों में बतायी गयी है। 5 महाव्रत, 5 समिति और 3 गुप्ति। इन 13 प्रकार के अंगों में उनका चारित्र पूर्ण होता है, विशुद्ध होता है। 5 महाव्रत कौन से हैं? अहिंसा महाव्रत, सत्यमहाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत और परिग्रहत्यागमहाव्रत। ये महाव्रत इसलिए कहलाये कि साधारण पुरूष इन्हें नहीं धारण कर सकते हैं। महान् पुरूष धारण करते हैं। ये व्रत किसी महान् उद्देश्य के लिए धारण किये जाते हैं। ये व्रत स्वयं महान् हैं इस कारण महाव्रत कहलाते हैं।

वे महापुरूष अहिंसा महाव्रत का पालन करते हैं। ऐसा अपने आत्मा को संयत बनाया है कि मन में किसी भी प्रकार के रागद्वेष भाव नहीं उत्पन्न हो पाते हैं। रागद्वेष उत्पन्न होने का नाम हिंसा है। इतनी समता है, इतना विशुद्ध तत्त्वज्ञान है कि वे रागद्वेष में नहीं पड़ते, अन्य की तो कथा ही क्या है? धर्म के नाम पर भी धर्म की चर्चा के प्रसंग में भी जहां वे जानते हैं कि अब रागद्वेष आने को हैं तो उस चर्चा को भी छोड़ते हैं और मौन रहकर अपने आपमें अपने स्वरूप की आराधना करने लगते हैं। वे रंचमात्र भी रागद्वेष को अहित जानते हैं। तो रागद्वेष न करने रूप अहिंसा महाव्रत

को उन्होंने धारण किया है और इस ही प्रसाद से बाह्य में भी अहिंसा भली प्रकार पलती है। सभी जीवों में जब साम्यभाव जग गया, सब मेरे ही समान हैं, सब चैतन्यस्वरूप हैं, सबमें वही तेज है, ऐसा ज्ञान होने पर अब उनकी प्रवृत्ति इतनी सावधान हो गयी कि चलते समय किसी समय जीव की हिंसा न हो जाय ऐसी अपने में सावधानी रखते हैं। उनके 6 काय की जीवों की हिंसा का परित्याग हो चुका है मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदना से, और इसी कारण वे किसी आरम्भ में नहीं पड़ते। यहां तक कि वे अपनी क्षुधा मेटने के लिए आहार तक बनाने को एक झंझट समझते हैं। उनकी तीव्ररूचि होती है आत्मतत्त्व की, इस कारण समस्त बाह्यपरिस्थितियों को अहितकर जानकर अहिंसा महाव्रत का पालन करते हैं। इसी कारण इनका बाहरी रूप ऐसा है कि न कोई इनके बाग है, न कहीं खेती है, न ऊँट घोड़ा आदि हैं। न भस्म रखते हैं, न चोटी रखते हैं, न कोई शस्त्र चिमटा आदिक रखते हैं। एक गातमात्र परिग्रह है और अन्तरंग में इस ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व की ओर उनकी धुनि है, रूचि है, ऐसे अहिंसा की मूर्ति ये योगीश्वर होते हैं जिनकी इस अहिंसामयी मुद्रा को निरखकर जातिविरोधी जानकर सिंह हिरण आदिक उनके निकट बैठे रहते हैं और वे भी शान्त हो जाते हैं। अहिंसा की प्रतिष्ठा में निकटवर्ती जीव भी अपना बैर-विरोध छोड़ देते हैं। ऐसे अहिंसा महाव्रत से संयुक्त हैं वे योगीश्वर।

योगियों की सत्यमहाव्रतसंयुतता- दूसरा महाव्रत है सत्यमहाव्रत। जिसका आत्मा स्वच्छ है, सत्य है, जहाँ माया नहीं, लोभ नहीं, मान का परिणाम नहीं, जो शान्ति की मूर्ति हैं, चारों कषायें जिनकी मंद हो गयीं ऐसे पुरूष किसी का अहित करने वाले वचन कैसे बोल सकें? सो वे हित मित प्रिय वचनों का सदा उपयोग करते हैं। वे योगीश्वर ऐसे ही वचन बोलते हैं जो दूसरों के लिए हितकारी हों। ऐसे वचन वे कभी नहीं बोलते जिनमें किसी दूसरे जीव का अहित सम्भव हो। दूसरे उनके वचन परिमित होते हैं। अधिक वचनालाप से वे अति दूर रहते हैं। जितना बोलना वे आवश्यक समझते हैं उतने ही वचनों का प्रयोग करते हैं। तीसरे उनके वचन प्रिय होते हैं। अप्रिय वचनों का वे प्रयोग नहीं करते। जिन वचनों के द्वारा किसी के मन में ठेस पहुंचे ऐसे वचन वे कभी नहीं बोलते हैं। अत: वे योगीश्वर सदा हित मित प्रिय वचनों का प्रयोग करते हैं। ऐसे वे सत्य की मूर्ति योगीश्वर सत्यमहाव्रत का पालन करते हैं।

योगियों की अचौर्यमहाव्रतसंयुतता- तीसरा है अचौर्यमहाव्रत। उन योगीश्वरों के चोरी का सर्वथा त्याग है। उनमें चारी करने की बात असम्भव है। उनमें चोरी करने की बात सम्भव ही नहीं है क्योंकि वे सदा अपने को सावधान रखा करते हैं। रागवश किसी भी चीज को अपनी मान लेना यह भी चोरी है। है परपदार्थ और उसके प्रति स्नेह जग जाय, उसके प्रति राग हो जाय तो यह भी एक चोरी का

भाव है। इतनी भी सूक्ष्म बात से बचने वाले महापुरूष किसी भी वस्तु को चुरा लें, यह कहां सम्भव है? और ऐसे ही महान् परिणाम के कारण उनकी बाहरीवृत्ति ऐसी है कि कोई चुराने का साधन ही नहीं। कोई कपड़ा हो, जेब लगी हो अथवा संदूक आदिक कोई चीज रखते हों तो चुराने की बात भी सम्भव है। जब कोई उनके परिग्रह ही नहीं है तो फिर उनमें चुराने की बात कहां सम्भव है? इस अचौर्यमहाव्रत के वे साक्षात् एक प्रतीक हैं। जहां वे ठहरे हों वहां ठहरना चाहें अन्य कोई तो ठहर जावे उन्हें साधु मना नहीं करते। हां ध्यान की साधना के लिए उन यागीजनों को एकान्त स्थान प्रिय है। इसलिए वे एकान्तस्थान में ठहरते हैं। वहीं और कोई ठहरना चाहे तो उसका विरोध भी नहीं करते। वे तो कहीं एकान्त में जाकर ठहर जाते हैं। यों अचौर्यव्रत के धारी वे योगीश्वर कर्मों की विशुद्धि के लिये, कर्मों को दूर करने के लिए अन्तर्बाह्य तपश्चरण करते हैं।

योगियों की ब्रह्मचर्यमहाव्रतसंयुतता- चौथा महाव्रत है- ब्रह्मचर्यमहाव्रत। उसका परमार्थ प्रयोजन तो है यह कि ब्रह्म मायने आत्मा और चर्य अर्थात् लीन हो जाना, आत्ममग्न होते रहना सो है ब्रह्मचर्य का पालन और ऐसे जो परमब्रह्मचर्य के पालन के प्रयत्नशील हैं उनका बाह्य में ब्रह्मचर्य होता है, वे कुशील पाप का मन, वचन, काय से परित्याग कर देते हैं। मोहीजनों को इस ब्रह्मचर्यमहाव्रत का धारण करना कठिन मालूम होता है लेकिन जिनकी दृष्टि अपने आत्मस्वरूप पर लगी है और इस आत्मावलोकन में ही अपना सर्वस्व हित समझते हैं, अन्य कोई धुनि है ही नहीं, वे इस आत्मस्वरूप के निकट बने रहने में तृप्त रहा करते हैं, आनन्दमय हुआ करते हैं, उनके वेदना भी उत्पन्न नहीं होती। ब्रह्मचर्य का विरोधी परिणाम कुशील है, यह तो मनोज है। मन में संकल्प हुआ कि यह काम वेदना हुई और कामवेदना से पीड़ित होकर उस तरह फिर वह यत्न करता है। तो जिनका मन संयत है और मन इस आत्मस्वरूप की ओर ही लगा हुआ है, यह ही धुनि जिनकी हुई है ऐसे पुरूषों को ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना कुछ भी कठिन नहीं है। उनके लिए तो अति सुगम है। तो ऐसे ब्रह्मचर्य की मूर्ति ये योगीश्वर वन में आत्मशान्ति के लिए कर्मों की विशुद्धि के लिए तपश्चरण करते हैं।

योगियों की परिग्रहत्यागमहाव्रतसंयुतता- इसी प्रकार 5 वां महाव्रत है परिग्रहत्याग महाव्रत। धन दौलत, परिवार मित्रजन, यश कीर्ति आदिक ये सब परिग्रह बन जाते हैं। इन समस्त परिग्रहों का त्याग ये साधुजन इसलिए करते हैं कि इनसे आत्मा का रंच भी हित नहीं है, और जब तक इनका सम्पर्क रहेगा तब तक आत्मा को क्षोभ रहेगा, अज्ञान रहेगा, और उस अज्ञानभाव में जो करतूत करेंगे वे सब करतूत जन्म मरण की परम्परा बढ़ाने वाली बनेंगी। इन परिग्रहों से तो इस संसार में रूलना ही होता है। शान्ति की बात परिग्रह के सम्बन्ध से कभी मिल ही नहीं सकती। अन्तरंग और बहिरंग समस्त प्रकार के परिग्रहों का त्याग वे साधुजन सहज ही कर लेते हैं, और

सकल परिग्रह का त्यागकर निर्ग्रन्थ अवस्था में रहते हुये इस केवल आत्मस्वरूप को निरखकर वें तृप्त रहा करते हैं। यों व परिग्रहों का त्याग करके वन में एक आत्मशान्ति के लिए परमतपश्चरण करते है, यही उनका योग है। योगियों की यही एक परमआनन्द का लाभ प्राप्त करने की योजना है।

योगियों की आन्तरिक ईर्या- जाननहार रहने की स्थिति को छोड़कर अन्य जितने भी विभाव उत्पन्न हुआ करते हैं उन सबमें मेरा हित नहीं। यह मैं आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित एक ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, इसमें बाहर का कुछ आना जाना नहीं रहता, यह अपने स्वरूप में ही रहकर अपने आपकी सृष्टि किया करता है। जब बाह्यपदार्थों का आश्रय लेकर कर्मोदय का निमित्त पाकर अपने आपमें कुछ रचता है तो वह विकार परिणमन रचा करता है, वे सारे विभाव दु:खरूप हैं। क्या राग में अभी तक किसी ने शान्ति पायी? भले ही मोही लोग व्यामोह में इस पर ध्यान न दें और राग में अंध होकर राग की प्रवृत्ति में रहकर अपना समय व्यतीत कर दें, पर कुछ थोड़ा भी विवेकपूर्वक विचारा जाय तो स्पष्ट विदित होता है कि राग में शान्ति नहीं है। अच्छा यह तो बताओ कि राग किया जाने लायक संसार में क्या पदार्थ है? अनन्त जीवों में से जो दो चार जीव अटपट घर में आ गये हैं; क्या वे राग किये जाने योग्य हैं? उन जीवों से आपका कुछ नाता है क्या? कुछ भी तो नाता नहीं है, फिर अत्यन्त पर इन चेतन पदार्थों का आश्रय लेकर अर्थात् केवल कल्पनाएँ करके जो मैं अपने रागभाव की सृष्टि कर रहा हूं उसके फल में जो दु:ख हो रहा है। उस दु:ख से बचाने में न ये ही समर्थ हो सकेंगे जिनमें राग किया जा रहा है, न अन्य कोई भी समर्थ होगा। क्या कभी किसी ने द्वेष रखकर भी शान्ति भी पायी है? द्वेष करते हुए में अपने ही अन्दर क्रोध भाव व अरूचिभाव आदिक उत्पन्न हो जाते हैं, खुद को भोजनपान भी नहीं रूचता, विकल्पों की घुड़दौड़ में कितना हैरान होना पड़ता है? कौनसे विभाव में इस जीव को शान्ति मिलती है सो तो निरखिये। ये योगी पुरूष यह सब कुछ यथार्थ जानकर रागद्वेष के आश्रय से दूर हुए हैं और बाह्यवृत्तियों को त्यागकर अपने आपमें अब वे चलना चाहते हैं। वे बड़ी सावधानी इस बात की रखते हैं कि अपने आपके पथ में अन्त: ही अन्त: गमन करते जायें।

योगियों की ईर्यासमितिसंयुतता- बाहर में कहाँ जाना, किस चीज से राग करना? कौन मेरा प्रभु है? किसको क्या दिखाना? यहाँ सबसे हटकर एक अपने अन्त: में गमन कर रहा है यह योगी। ऐसे योगीश्वर जब कभी बाहर में गमन करते हैं किसी धार्मिक प्रयोजन से तो बड़ी समितिपूर्वक गमन करते हैं। किसी जीव की हिंसा न हो जाय। तत्त्वज्ञानी जितनी भी अपनी वृत्ति प्रवृत्ति करता है उन सबमें महान् उद्देश्य बना रहता है। किसी जीव की मुझसे हिंसा न हो जाय। इसमें साधारण

उद्देश्य तो यह है कि इसे तकलीफ होगी, मेरे कारण ये क्यों दु:खी हो। मैं तो थोड़ासा प्रमाद रखूँ और इस जीव के प्राणों पर संकट न पहुंचे, साथ ही एक अन्त: पवित्र उद्देश्य यह हुआ है कि किसी जीव का यदि इस प्रकार पैर आदिक रखने से घात हो गया तो यह जीव संक्लेशपूर्वक मरण करेगा और जिसके कारण वह अपना उत्थान करते करते उच्च अवस्था में आया था उससे निम्न अवस्था को प्राप्त हो जायेगा। जैसे मान लो किसी तीनइन्द्रिय जीव का घात हो गया और संक्लेशपूर्वक मरण करने के कारण वह एकेन्द्रिय में पहुंच जाय तो यह हुआ उस जीव का निम्नअवस्था पाना। अब वह जीव अपने सुलझने के रास्ते से बहुत दूर हो गया। यद्यपि वह असंज्ञी जीव था, असंज्ञी जीवों को मन न होने से सुलझने का कुछ भी विवेक नहीं रहता लेकिन कुछ ज्ञान का विकास, कुछ क्षयोपशम का विकास ये तो होते हैं ना? तो जिस तीनइन्द्रिय जीव का घात हो जाने से, उसे संक्लेशपूर्वक मरण करने से निम्नअवस्था को प्राप्त करना पडा़ तो उसका तो यह एक बहुत बड़ा अकल्याण हो गया।

ईर्यासमिति में चार प्रकार की सावधानी- ये योगीश्वर जो अपने आपके अन्त:स्वरूप में सावधानी से गमन करने का, विहार करने का उद्देश्य रखा करते हैं वे योगीश्वर जब बाहर में विहार करते हैं तो कहीं जीवहिंसा न हो जाय, ऐसी सावधानीपूर्वक विहार करते हैं। तभी तो ईर्यासमिति में 4 बातों का ध्यान रखा जाता है। चार हाथ आगे जमीन देखकर ही चले ताकि जीव न मरे। इतने मात्र से ईर्यासमिति नहीं बनी। कल्पना कर लो कि कोई पुरूष पाप करने के लिए जा रहा है और किसी जीव की हिंसा न हो जाय यों निरखकर सावधानी से जा रहा है तो क्या वह ईर्यासमिति मानी जायेगी? दिन के प्रकाश में जो चार हाथ आगे जमीन निरखकर जाय, किसी अच्छे धार्मिक काम के लिए जाय और समतापरिणाम रखता हुआ, क्षोभ न रखता हुआ, क्रोध न करता हुआ विरक्तबुद्धिपूर्वक जाय तो ईर्यासमिति होती है। ये योगीश्वर इस ईर्यासमिति से संयुक्त हैं और कर्मों की विशुद्धि के लिए परमार्थ तपश्चरण कर रहे हैं।

योगियों की भाषासमितिसंयुतता- दूसरी समिति का नाम है भाषासमिति। भाषा का भलीविधि से प्रयोग करना इसका नाम है भाषासमिति। किसी जीव के लिए मर्म छेदी वचन न निकल जायें, किसी का दिल दु:खाने वाले न हों जायें और किसी का अहित भी न हो जाय। ऐसी दोनों तरहकी सावधानी रखते हुये ये महापुरूष वचन बोला करते हैं। बात तो की जाय हित की पर कटु शब्दों में यदि बोला जाय तो वे शब्द तुरन्त ही सुनने में अप्रिय लगेंगे, तो प्रथम तो ऐसे अप्रिय शब्द सुनकर कोई भी पुरूष हित की ओर दृष्टि नहीं ला सकता। कोई बिरला पुरूष ले आये यह बात अलग है। तो अप्रियवचन बोलना भाषासमिति से बहिर्गत है। कोई पुरूष प्रिय वचन तो बोले पर अहितकारी

बोले, जैसे कि सभी लोग प्राय: रागद्वेषादि से युक्त बातें बोला करते हैं, यद्यपि वे बातें लोगों को सुनने में भली लगती हैं, पर वास्तव में वे जीव का अहित कराने वाली बातें हैं। तो जो वचन हितरूप हों और प्रिय हों वे वचन समिति के अन्तर्गत हैं और ऐसी सावधानी से बोलने वाले पुरूष स्वयं इतने मर्यादित हैं कि उनके वचन परिमित ही निकलते हैं। ऐसी भाषासमिति के पालनहार योगीश्वर जो कि विचार तो यह रखते हैं कि कुछ बोलना ही न पड़े, पूर्ण मौन से अपने आपमें अंत संयत होकर अपने उस स्वरूपानुभव का स्वाद लेते रहें। उत्सुकता तो यों है, आन्तरिक इच्छा तो यों है फिर भी करूणावश, कर्मविपाक इसही तरह के वहाँ हैं कि दूसरों के भले के लिए भीतर में भावना जगती है, वे भाषासमिति का प्रयोग करते हैं।

योगियों की एषणासमितिसंयुतता- ये योगीश्वर मौन से रहकर, शान्त रहकर अपने में कुछ खोजा करते हैं। निज अन्त:प्रकाश के खोजने की विधि गुप्त है, अन्तस्तत्त्व भी गुप्त है, उस अन्तस्तत्त्व के खोजने के लिए वे योगीश्वर भीतर ही भीतर अपने उपयोग को समाये जा रहे हैं। तो वे योगीश्वर अन्दर ही अन्दर क्या निरख रहे हैं, उन्होंने क्या खोज की है, जो कुछ उन्हें दिखा, जहां वे रमा करते हैं, वह है उनका वास्तविक आहार। आत्मा का पोषण। आत्मा का भोजन अपने आपमें पड़ा हुआ है, जो अद्भुत आनन्द का कारण है उसकी एषणा कर रहे हैं योगी। एक ही मात्र जिनके जीवन का उद्देश्य है। अपने आपमें बसे हुए इस ज्ञानस्वरूप कारणपरमात्मतत्त्व के निकट रहना, कृतार्थ रहना, सब झंझटों से दूर होना। जो सत्य है उस पर जिसकी सहजदृष्टि लगती है ऐसा अन्त: ही अन्त: आत्मीय वास्तविक आहार की एषणा करते रहने वाले और उस आहार से तृप्त रहने वाले योगीश्वर जब कभी क्षुधा वेदना से शरीर सम्बन्ध के कारण स्वतंत्र हो जाते हैं और जानते हैं कि अभी हमको आन्तरिक एषणा करने को और समय चाहिये। अभी हम अपने वास्तविक स्वरूप के अनुभवरूप आहार में पूर्ण नहीं हो पाये हैं, अभी जिन्दा रहना चाहिये, सो एक इस निजकार्यसिद्धि के लिए जब वे भोजन की एषणा करते हैं, तब वे विधिपूर्वक अन्तरायों को टालकर, गृहस्थ की पूर्ण भक्ति निरखकर जिसके द्वारा वे आहारशुद्धि का अनुमान करते हैं ऐसी समस्त विधियों सहित वे वैराग्यपूर्वक आहार में भी कुछ प्रवृत्ति करते हैं, वह प्रवर्तन संयमरक्षा के लिए है। कुछ थोड़ा भी किसी जीव पर संकट आये, ऐसी बात सुन लें तो वे फिर आहार नहीं करते, इतने करूणावान है। दूसरे जीव की विपदा भी सुनते रहें और यहां अपना आहार करते रहें, ऐसी चेष्टा करूणावान के नहीं हुआ करती है। कहीं बड़ी विपत्ति हो, कोई प्राणघात जैसा आक्रन्दन कर रहे हों। कहीं कोई जीव मरता हुआ दिख जाय, चूहे को बिल्ली ने पकड़ लिया यों ही दिख जाय, कोई पंचेन्द्रिय जीव मरा हुआ दिख जाय, या अपने पैरों के बीच आकर कोई कुन्थु जीव यों ही बेहोश हो जाय, कुछ भी घटना दु:खदर्दभरी दिख जाय तो वे आहार करना नहीं चाहते। जितने अंतराय हैं उन

सबमें एक बात भरी है कि वे अपने शरीर से इतना निष्पृह हैं कि वे अधिक राग सहित भोजन प्रवृत्ति नहीं कर सकते। ऐसे ये योगीश्वर एषणासमिति में सावधान रहते हैं। एषणा का अर्थ है- व्यवहार में भोजन के लिए जाना, भोजन की खोज करना। एषणा का अर्थ खोज है। जिनको पता नहीं कि आज कहां आहार होना है, जहां भी योग मिला वहां आहार ले लेते हैं। ऐसे निष्पृह और केवल आत्मसाधना का ही उद्देश्य रखने वाले योगीश्वर एषणासमिति का पालन करते हैं।

योगियों की आदाननिक्षेपणसमितिसंयुतता- चौथी समिति है आदाननिक्षेपणसमिति। ये योगीश्वर परमार्थतः अन्दर ही अन्दर रहकर किसको तो लेते हैं, किसकी रखा करते हैं, किसका शोधन किया करते हैं? विभावों को हटाना, स्वभाव को ग्रहण करना, यही जिनका भीतर में एक काम चल रहा है, ऐसी ही जो अपनी धुनि बनाये रहता है, इस आन्तरिक स्वभाव में, उपयोग के निक्षेपण में, समता से विकारभावों के अन्यत्रक्षेपण में जो अपनी सावधानी बनाये हुए हैं वे जब बाहर में कुछ जरूरत समझते हैं, कमण्डल, पिछी, पुस्तक उठाने और धरने की, तो सावधानीपूर्वक उन वस्तुवों को धरते और उठाते हैं ताकि किसी जीव को बाधा न हो जाय। जिन्होंने समस्त जीवों को अपने ही समान समझा है वे जानते हैं कि कैसी कैसी परिस्थितियों में जीव का अहित है और उस जीव को दुःख होता है, वे किसी भी जीव को दुःख देना अथवा दुःखी देखना पसंद नहीं करते। उनकी सबके प्रति सुखी रहने की भावना रहती हैऔर उनका यत्न भी ऐसा होता है कि जिससे सब जीव सुखी और शान्त रहें। ऐसे योगीश्वर आदाननिक्षेपणसमिति से संयुक्त होते हैं और वनान्त में रहकर कर्मों की विशुद्धि के लिए अपना परम तपश्चरण किया करते हैं।

योगी संतों के साथी अहिंसा, करूणा और वैराग्य- जिनके स्वपर का यथार्थ निर्णय हुआ है और इस ही कारण परभाव परद्रव्य सर्व को भिन्न और अहितरूप जानकर उनसे जिन्होंने अपेक्षा की है और इसके ही प्रसाद से जिनको अपने स्वद्रव्य में स्थिति पाने के लिए प्रेरणा मिली है और स्व में स्थिति का यत्न करते हुये जो अपनी वास्तविक करूणा कर रहे हैं ऐसे योगीजन जब कभी संयम की सिद्धि का साधन जानकर कभी क्षुधा वेदना से ऐसे पीड़ित होकर जिससे कि शरीर की रक्षा किया जाना असंभव समझ ली हो, आहार के लिए विधिपूर्वक जाते हैं तो आहार किस विधि से करते हैं उसका यह प्रकरण है। योगी पुरूष अहिंसा और करूणा की मूर्ति होते हैं। उनकी सारी विधियों में अहिंसा और करूणा गर्भित है। फिर भी एक मुख्यता यह बताने के लिए कि जीवघात न हो, वह तो है अहिंसा और किसी जीव को कष्ट न पहुंचे ऐसे भाव को कहते हैं करूणा। अहिंसा करूणा और विरक्ति इन तीन बातों का सम्मिश्रण रहता है उनकी आहारचर्या आदिक सब विधियों में।

योगी के उद्‌दिष्ट दोष का परिहार- ये विरक्त योगीसंत जब सिद्ध भक्ति करके आहारचर्या में निकलते हैं तो स्वात्मगौरव जीवों की अहिंसा और दया का परिणाम ये तीनों उनके साथ-साथ ही चलते हैं। जहाँ कहीं विधिवत् दातार ने पड़गाहा, जो दातार निर्लोभ है, भक्तिवान है। पड़गाहा तो वहाँ भोजन करने जाते हैं, किन्तु यह समझ जायें कि यह भोजन तो केवल मेरे लिए ही बना है, इतना सा ही तो यह भोजन है, एक आदमी के लिए बनाया गया यह भोजन है, इसमें यही तो भाव होगा कि इनके लिए सिर्फ बना लें, हम लोग तो दूसरे चूल्हे में चौके में खा लेंगे यथातथा, ऐसा दृश्य देखकर भी साधुजन वहाँ आहार नहीं लेते हैं। इसमें करूणा की बात भरी हुई है, ऐसी बुद्धि होने पर कि केवल मेरे लिए भोजन बना है और भोजन कर ले तो साधु के इसमें दोष आता है। इस प्रसंग में यह आज की पद्धति में शंका करने वाले लोगों को यह जान लेना आवश्यक है कि जब कभी गृहस्थ अपने घर के सब लोगों को भी शुद्ध भोजन मिलेगा, सबके लिए शुद्ध भोजन बनाना है और उसमें यह हमारा भाव रहा आये कि हम साधु को भी पड़गाहेंगे, तब भी यहाँ उद्दिष्ट दोष नहीं आता है। यह केवल उसही के लिए भोजन बने और घर के लोग सब अलग चौके में भोजन करेंगे ऐसी बात हो तो वहाँ उद्दिष्ट दोष होता है। गृहस्थ तो बनाता ही भोजन। यदि एक साधु को आहारदान करने का भाव रखकर आज अहिंसा विधि का यत्न करके उस भोजन को बनाया है तो उसने एक विशेषता ही तो की है कि जो भोजन सब घर वालों के खाने के लिए अटपट विधि से यथातथ्य हिंसा आदिक प्रवृत्तियों से बनाया जाता था आज उसमें सावधानी से हिंसा की बात तजकर विधि से बनाया है तो उसे भोजन बनाने का काम तो रोज करने को था ही, सो किया तो वही, उसमें एक सावधानी रखी, हिंसा टली, तब उसने अपराध नहीं किया। कहां उद्‌दिष्ट दोष की बात नहीं आयी। उद्दिष्ट दोष तो वहां ही है जहां केवल उस साधु के लिए भोजन बनाया जाय। इसमें साधु करूणावश कि मेरे लिए इसने इतना श्रम किया है, अलग से आरम्भ किया है क्योंकि सब घर के लिये भोजन का तो आरम्भ किया जा रहा है, अलग उनका अपना किसी चौके पर और यहाँ केवल मेरे लिए ही किया गया है, ऐसा जानकर करूणा की मूर्ति अहिंसाव्रती योगी पुरूष आहार ग्रहण नहीं करते। कोई पुरूष कभी ऐसा भाव करके कि आज खूब शुद्ध भोजन बनायें, बहुत अधिक और साधुवों के लिए जो भी यहां आयें, सब भोजन कर जायें तो इतना प्रचुर भोजन बनने पर भी वह उद्दिष्ट दोष में शामिल है। कारण यह है कि उस श्रावक ने अपने लिए रोज की भांति अलग ही प्रबंध रखा और यह प्रबंध केवल सब साधुजनों के लिए है तो वहां भी वह दोष है। तो ऐसे आरम्भवान और चौके वाली घटना को जानकर साधुजन आहार नहीं लेते। इसमें करूणा की छाया है, अहिंसा की छाया है और विरक्ति की भी छाया है। यदि आसक्ति होती तो सोचते कि होने

दो कुछ भी, यहां तो अच्छी तरह भोजन मिलेगा, तो वैराग्य, करूणा और अहिंसा, इन तीन की बात इसमें शामिल है।

साधिक और पूर्तिदोष का एषणासमिति में परिहार- उद्दिष्ट तो है बहुत बड़े दोष की बात, पर कोई पुरूष बनते हुए भोजन में ही साधु को दान देने के अभिप्राय से कुछ और भी डाल दे और भी अधिक भोजन बनावे, अथवा भोजन बनाने की रूचि हो तो किसी प्रश्न के बहाने साधु को और रोक लेना कि आध घंटा देर और हो जाय, इस तरह से जो भोजन की प्रवृत्ति श्रावक करता है वह साधिक दोष कहलाता है। इसमें भी साधु के निमित्त का दोष आ गया है। मेरे लिए ऐसा कोई कष्ट किया है, यह जान जायें तो साधुजन आहार नहीं लेते। ये जो दोष कुछ पहिले बताये जा रहे हैं इसमें यह समझना कि इन दोषों का भागी श्रावक है। ये दोष श्रावक के ऊपर लगते हैं, पर साधुजन जान जायें तो आहार नहीं लेते। ये साधु के द्वारा किए गए दोष नहीं, श्रावक के द्वारा किए गए दोष हैं। कुछ दोष साधुकृत होते हैं, उनको इसके बाद बतावेंगे। कभी कोई श्रावक यों करे कि प्रासुक वस्तु में अप्रासुक वस्तु मिला दे, गर्म जल मिला दे, किसी गर्म चीज में ठंडी चीज मिला दे तो ऐसे आहार को अप्रासुमिश्रण आहार कहते हैं। श्रावक इसमें दोष पाता है और श्रावक ऐसा सोचे कि इस बर्तन को तब तक अन्य काम में न लेंगे जब तक कि साधु को आहार न दे लेंगे। ऐसे ही चूल्हा चक्की आदिक सभी चीजों के सम्बन्ध में अगर कोई कल्पना की बात आती है तो उसमें हिंसा का दोष लगता है और साधु के निमित्त का भी दोष लगता है। रंचमात्र भी साधु के निमित्त से कुछ खटपट की हो तो वे साधुजन आहार नहीं लेते हैं। मान लो चूल्हा तो रोज नहीं बुझाया जाता था और आज चूल्हा बुझाया गया तो यह भी दोष में ही शामिल हुआ। ऐसी छोटी-छोटी बातें भी जहां थोड़ा भी कष्ट देखा श्रावक का वहाँ करूणामूर्ति साधु आहार नहीं लेते हैं। यह साधुजनों के आहारचर्या की विधि बताई जा रही है।

एषणासमिति में मिश्र और प्राभृतदोष का परिहार- कभी कोई श्रावक ऐसा जनरल (साधारण) चौका लगाये कि जो भी आयेगा, गृहस्थ आयेंगे उन्हें खिलायेंगे, साधुभेष वाले आयेंगे उन्हें खिलायेंगे और कोई साधु आयेंगे उन्हें भी खिलायेंगे इस प्रकार भी बनाया हो, बड़ा चौड़ा हो, बड़े प्रबंध की बात हो तो वहां भी साधुजन आहार नहीं लेते, इसका कारण है कि वह वैराग्य के विरूद्ध बात है। इसमें असंयमी जनों का संपर्क होगा, असंयमीजनों की भीड़ रहेगी और ऐसी जगह आहार करने में दीनता का भाव रहेगा, उसमें दैन्य दोष आयेगा और साधु के प्रति भक्ति भी विशेष न कहायेगी। तो भक्तिरहित श्रावक के यहां साधुजन आहार नहीं लिया करते हैं। इस प्रकार साधुजन अपने वैराग्य, करूणा और अहिंसा की प्रतिष्ठा किये रहते हैं। श्रावकों का कर्तव्य है कि वे प्रतिदिन प्रतिग्रह करके

साधुजनों को आहार देकर भोजन करें। अगर कोई श्रावक प्रतिदिन नहीं कर्तव्य कर सकता तो वह नियम ले ले कि मैं अमुक तिथि के दिन शुद्ध भोजन सब घर के लिए बनाऊँगा और साधु को आहार देकर खाऊँगा और उस दिन आहार दे तो वह विधि में शामिल है। फिर वह गृहस्थ यदि ऐसा सोचे कि इस दिन का नियम तो है, पर बजाय उस दिन के मैं एक दिन अथवा दो दिन पहिले कर लूँ तो ऐसा करने पर उस श्रावक को दोष आयेगा। यदि कोई साधु इस बात को जान जाय कि इस श्रावक का नियम तो इस दिन का है और उसके बजाय इस दिन किया है, तो इसमें इस दातार को बड़े विकल्प करने पड़े होंगे, इसने अपने नियत प्रोग्राम को बदलकर नये नये प्रोग्राम की बात सोची होगी, इसको तमाम प्रकार की आकुलतायें, तमाम प्रकार के विकल्प करने पड़े होंगे, तो ऐसा सोचकर वे साधुजन उस दातार के यहां आहार नहीं लेते। कितना आत्मगौरव है, कितनी दातार पर करूणा है?

एषणासमिति में बलिदोष न्यस्तदोष का परिहार- कोई कोई श्रावक ऐसे भी होते हैं कि आहार किया, किसी देवता को भी उसमें से चढ़ा दिया, कोई समय होता है ऐसा, जैसे कोई पर्व हो या विवाह आदिक के अवसर हों तो उसमें कुछ देवताओं को भी भोजन चढ़ाते हैं, किसी भी जगह चढ़ा दिया और उस बने भोजन में या उस ऐसे बचे हुए भोजन को वह श्रावक देवे तो साधुजन नहीं लिया करते हैं। इसमें वे सावद्य दोष समझते हैं। बड़े आरम्भ किये, कहां-कहां चढ़ाने की दृष्टि से भोजन बनाया, यह भोजन, निर्दोष नहीं है। योगी इतना तक भी दूसरे का कष्ट बचाने का भाव रखते हैं कि जिस बर्तन में भोजन बनाया गया हो उसमें से निकालकर भोजन-सामग्री अलग रख दे, और फिर सजे सजायें थाल में साधु को आहार करने को दे तो वे साधु भोजन नहीं करते हैं, इसे न्यस्तदोष कहते हैं। इसमें एक तो नवीन आरम्भ किया। सहज बात थी, भोजन बना, जिस बर्तन में बना रहे उसी में रहने दे, समय पर निकालकर दे दे, उसमें से निकालना, फिर कहीं रखना, फिर उठाना देना, इसमें नया आरम्भ भी हुआ और फिर कोई दूसरा दे, धरे, तो भी कुछ गड़बड़ी में वह पड़ सकता है, ऐसे आहार को साधुजन नहीं लेते।

एषणासमिति में प्रादुष्कृत और क्रीतदोष का परिहार- साधु घर आ जाय, फिर भोजन के बर्तन को एक जगह से उठाकर दूसरी जगह ले जाय और दे तो उसमें भी दोष है। साधु के घर आने पर फिर किवाड़ खोलना, कोई पर्दा दूर करना, कोई बर्तन मलना, दीपक जलाना आदिक भी कार्य सदोष हैं। ऐसी घटना पर साधुजन आहार नहीं लेते, क्योंकि उस भोजन में शुद्धि नहीं होती है। जीवहिंसा संभव है, ईर्यापथ नहीं बनता। करूणा की मूर्ति योगीश्वर क्रीतआहार को नहीं ग्रहण करते हैं। कोई पुरूष जब ही साधु भिक्षा के अर्थ घर आये तब ही यह कोई सचित्त अचित्त कोई द्रव्य

देकर उसके एवज में भोजन ले आये और दे तो उसे साधुजन ग्रहण नहीं करते। जैसे साधु तो आहार करने के लिए आ गया है और कोई घर का व्यक्ति कहे कि जावो जल्दी बाजार से अमुक चीज ले आवो, घी, दूध, शक्कर आदिक तो ऐसे अनेक प्रकार के परिवर्तन वाले आहार को साधुजन ग्रहण नहीं करते हैं। इसमें विकल्प बहुत किये जाते हैं और विकल्पों की बहुलता से यह नैमित्तिक आरम्भ होता है। उसमें दोष आता है।

एषणासमिति में प्रामित्य और परिवर्तित- कोई पुरूष ब्याज पर उधार लाये हुए अन्न से भोजन तैयार करके दे अथवा वैसे ही उधार लाकर भोजन बनाकर दे तो यह प्रामित्यदोष है, ऐसा भी आहार साधुजन ग्रहण नहीं करते, क्योंकि उधार लाई हुई चीज को चुकाने में संक्लेश उठाना पड़ेगा, ऐसा आहार करने में अदया का दोष है। साधुवों की मधुकरी वृत्ति होती है। वे बने हुए भोजन में से अपना योग्य भोजन लेते हैं, उसमें यह कल्पना नहीं रखते कि यह चीज बहुत मिष्ठ है, उत्तम है, जो कुछ बना है सो ले लिया। वे एक जीवनरक्षा के लिए आहार ले आते हैं। और यह समझ में आये कि इसने बड़ा कष्ट उठाया, इसने दूसरे से उधार लेकर बड़ा कष्ट उठाकर भोजन तैयार किया है, ऐसा जान जायें तो साधुजन आहार नहीं लेते। कारण कि इस श्रावक को उधार लिया हुआ सामान अदा करने में संक्लेश उत्पन्न होगा। कोई किसी चीज की अदल बदल कर ले कि भाई तुम हमसे दूध ले लो, हमें घी दे दो, हम आहार देंगे, ऐसे अदल बदल का भी पता हो जाने पर साधुजन आहार नहीं ग्रहण करते हैं। सुनने में बातें बहुत छोटी लग रही होंगी, लेकिन दातार तो हर किस्म के होते हैं। कोई धनी ही दातार बने सो बात तो नहीं, गरीब दातार भी होते हैं। उपरोक्त सभी बातें दातार में सम्भव हैं। इस कारण आचार्य ने पहिले से ही लिख रखा है और जैनशासन में ये सब विधियां परम्परा से चली आयी हैं।

एषणासमिति में निषिद्ध अभिहृत दोष का परिहार- कोई पुरूष नौकर या घर का ही कोई कभी चीज का निषेध कर दे कि इस चीज को न दो, तो चाहे उसने निषेध किया हो सहजभाव से, लेकिन निषिद्ध हो जाने पर साधुजन उस चीज को नहीं ग्रहण करते हैं, क्योंकि निषिद्ध चीज का ग्रहण करने पर असभ्यता आयगी। कोई परगांव से, दूसरे मुहल्ले से, दूर से आहार लाये और जहां साधु का आहार होता है वहां दे तो उस आहार को साधुजन नहीं ग्रहण करते। दोनों ओर के उसी लाइन के अन्य तीन-तीन घरों तक के लाया हुआ आहार साधुजन ले सकते हैं, पर बहुत दूर के अथवा सड़कें काटकर आने वाले के आहार को साधुजन ग्रहण नहीं करते, क्योंकि उसमें ऐसा व्यासंग रहता है कि वह अच्छी तरह देखकर भी न आ सका होगा, मार्ग में जीव रक्षा करके भी न आ सका होगा।

एषणासमिति में उद्भिन्न, आच्छेद्य एवं मालारोहणदोरूका परिहार- कभी कोई चीज, जैसे घी अथवा शक्कर डिब्बे में बन्द हो, पैक की हुई हो और उसे उसी समय खोलकर साधु को देने लगे तो वे साधुजन उसे नहीं ग्रहण करते, क्योंकि जल्दी में खुलने पर वहां जीवहिंसा की संभावना है। कदाचित् कोई श्रावक किसी बड़े आदमी के डर से आहार दे, जैसे कहीं राजा नाराज न हो जाय, या ये सब बड़े आदमी हम पर अप्रसन्न न हो जायें आदि सोचकर आहार दे तो ऐसे आहार को भी साधुजन नहीं लेते, इसलिए कि उसमें गृहस्थ को संक्लेश होता है। कोई पुरूष सीढ़ी से उतरकर ऊपर से कोई चीज नीचे लाकर आहार में दे तो उसे भी साधुजन नहीं ग्रहण करते क्योंकि उस उतरने वाले के सीढ़ी पर से गिर जाने तक का संदेह रहता है। ऐसे करूणावान साधुपुरूष ऐसे मालारोहण आहार को नहीं ग्रहण करते हैं, इस तरह ये 16 दोष हैं। ये दोष श्रावकजन किया करते हैं, पर साधुजन जान लें कि श्रावक ऐसे दोष करके आहार दे रहा है तो उसे वे नहीं ग्रहण करते हैं।

एषणासमिति में घात्रीदोष और दूतदोष का परिहार- कुछ दोष ऐसे हैं कि जो साधु की आसक्ति से साधु ही उन दोषों को किया करते हैं। जैसे गृहस्थ के घर कुछ ऐसी बात कहकर कि तुम्हारे घर के बच्चे बड़े अच्छे हैं इनको यों खिलाओ, यों सुलाओ, यों नहलाओ, इनको इस तरह से पहिना ओढा कर श्रृंगार करके, अच्छे ढंग से रखा करो, आदि कुछ ऐसी बातें बच्चों की रक्षा करने वाली धाई आदि को कहना कि जिससे श्रावक यह समझ ले कि इन महाराज जी को हमारे बच्चों से अधिक प्रेम है और फिर वह श्रावक बड़े उत्साहपूर्वक हमें आहार दे, इस प्रकार के भाव यदि साधु में आ जायें तो वह दोष उस साधु का ही है। तो ऐसा दोष करके भी साधुजन आहार नहीं ग्रहण किया करते। कभी कोई साधु किसी दूसरे ग्राम को जा रहा है और किसी ने कहा कि महाराज जी उस गाँव के अमुक व्यक्ति को हमारी यह चिट्ठी दे देना या हमारी कुशल कह देना और वह साधु यदि वैसा करता है तो उसमें दूतदोष लगता है। उस दोष को करके फिर उस घर साधु को आहार न करना चाहिये और अगर करता है तो उसमें दोष है। क्योंकि वैसा करने में ऐसा भाव आता है कि साधु ने अपने आहार की व्यवस्था करा ली।

एषणासमिति में निमित्तदोष, वनीपकवचन दोष व आजीवदोष का परिहार- कोई निमित्तज्ञानी साधु हो तो निमित्त की बात बताकर, सगुन असगुन, लाभ अलाभ, आदिक की बातें बताकर फिर उसके यहां आहार ले तो उसमें भी दोष है, क्योंकि उसमें भी एक आजीविका चलाने का भाव आ गया। गृहस्थ तो और तरह से कमाकर खाते हैं और वह साधु उस तरह से कमाकर खाता है, यही तो बात आयी। ऐसा भाव यदि साधु का हो तो वह सदोष है। तो ऐसा भाव बनाकर भी साधुजन आहार नहीं किया करते हैं। कोई आहार देने वाले श्रावक की हाँ में हाँ मिलाकर कुछ उसे संतुष्ट कराकर भी

साधुजन आहार नहीं ग्रहण किया करते, क्योंकि उसमें दीनता का दोष है। ऐसे दोष को बनीपक दोष कहा करते हैं। अपनी जातिकी शुद्धि बताकर जैसे मैं बड़े उच्च कुल का हूं मैं गृहस्थी में इस प्रकार के साधनों में रहता था आदि यों अपनी कला चतुराई बताकर कुछ जंत्रमंत्र आदिकदेकर फिर उसके घर आहार करें ऐसे उपार्जित दोषों से युक्त आहार भी साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं।

एषणासमिति में क्रोध, मान, माया, लोभ, पूर्वस्तुति, पश्चात्स्तुति, चिकित्सा विद्या आदि उत्पादन दोषों का परिहार- क्रोध करके भी साधुजन आहार नहीं ग्रहण किया करते हैं, क्रुद्ध होकर आहारप्रबन्ध कराकर आहार ग्रहण नहीं करते हैं। मान अभिमान के वश होकर भी साधुजन आहार नहीं ग्रहण किया करते, मायाचार छल कपट आदिक करके भी आहार ग्रहण नहीं करते, लोभपरिणाम के वश होकर भी साधुजन आहार नहीं ग्रहण किया करते। लोभ तो समस्त पापों का मूल है, आसक्ति का भाव रखकर भोजन करने में तो उनके मूल गुणों में विराधना है। कोई दातार की पहिले स्तुति करे जिससे कि यह श्रावक मेरी ओर आकर्षित हो और फिर उसके यहाँ भोजन करे तो वह पूर्वस्तुति दोष है, आहार करने के बाद बैठकर कुछ भोजन की व उस श्रावक की प्रशंसा करे, इस उद्देश्य से कि यह फिर इसी प्रकार से आहार कराये तो यह पश्चात्स्तुति दोष है। कुछ चिकित्सादिकी बात बताकर फिर उसके घर आहार करे तो उसमें भी साधु को दोष है, कोई मंत्र विद्या अध्ययन जंत्र मंत्र वशीकरण आदिक की आशा देकर उसके यहां आहार ग्रहण करे तो वह भी साधु का दोष है। इन समस्त बातों में यही परखते जाना है कि योगी पुरूष जो समस्त परिग्रहों का त्याग करके वन में एकान्त में रहकर आत्मयोग साधना कर रहा है उसकी कैसी वृत्ति होती है? वे आहार करने में कितने अनासक्त रहते हैं? जैसे हिरण घास भी चर रहे हों और जरा भी किसी चीज की आहट पायें तो वे झट उस आहार को तज देते हैं और सावधान हो जाते हैं, यों ही समझिये कि ये साधुजन ऐसे अनासक्त रहते हैं कि उस आहारचर्या के प्रसंग में कोई भी दोष आ जाय तो उस समय वे आहार को तजने में रंच भी संकोच नहीं करते हैं। इतने आत्मगौरव के प्रेमी ये साधुजन होते हैं।

एषणासमिति में चार महादोषों का परिहार- उक्त चौदह चौदह उद्गम और उत्पाद क दोष हैं, इसके अतिरिक्त अन्य चार महादोष हैं जैसे अंगार दोष। किसी वस्तु को स्वादिष्ट जानकर उसे खाने की इच्छा करना और यह कुछ और भी देवे, इस प्रकार की उसमें बुद्धि करना, ऐसा आसक्ति का भोजन करने को अंगार दोष कहते हैं और ग्लानि करते हुए भी भोजन करे कि यह चीज अच्छी नहीं बनाया, यह तो रूखा सुखा भोजन है, ऐसी ग्लानि रखकर भोजन करने को धूमदोष कहते हैं। और विरूद्ध पदार्थों को मिलाकर खाना संयोगदोष है और भोजन के परिणाम से अधिक भोजन

करना, यह अतिमात्र दोष है। साधुजन इतने निष्पृह होते हैं और आत्मसाधना की इतनी रूचि रखते हैं कि वे आसक्तिपूर्वक भोजन नहीं करते हैं, साथ ही यह बताने के लिए भी वह प्रकरण रखा है जो कि रोज के प्रसंग में ही था कि यह जान जायें कि आहार में किस-किस प्रकार के दोष हुआ करते हैं जिन दोषों को टालकर ही आहार देना चाहिये। इन दोषों के परिहार का कथन सुनकर सहसा अनुमान हो जाता है कि यों मुनि अन्तरंग में इतनी विशुद्धि रखते हैं।

एषणासमिति शंकित और पिहित दोष का परिहार- अपने आपके लिए सर्वस्व माने गये अपने आत्मा के निकट बसने की धुन रखने वाले योगी संत जब कभी परिस्थितिवश आहार के लिए निकलते हैं तो कैसे श्रावककृत दोषों से बने हुये भोजन को टालते हैं और कैसे स्वयंकृत दोषों से रहित भोजन को ग्रहण करते हैं? इसके वर्णन के बाद आज यह बात चलेगी कि जो आहार किया जाता है वह कैसा आहार निर्दोष कहलाता है, और कैसा सदोष होता है? सदोष आहार में कुछ तो भोज्यपदार्थगत हैं और कोई कुछ कल्पनाकृत भी हो जाते हैं। दोनों प्रकार के दोषों से रहित आहार ग्रहण करना चाहिये ऐसा वर्णन इस प्रसंग में चल रहा है। आहार में दोष 10 हुआ करते हैं- जैसे पहिला शंकित दोष। किसी भी भोजन में साधु को ऐसी शंका हो जाय कि यह भोजन लेने योग्य है अथवा नहीं है, आगम में इसे लेने योग्य बताया है अथवा नहीं बताया है, तो ऐसे शंकित भोजन को साधुजन नहीं ग्रहण करते। दूसरा है पिहित दोष। किसी वजनदार ढक्कन से या किसी अप्रासुक वस्तु से ढका हुआ भोजन हो और उसे उघाड़ कर दिया जाय तो उस भोजन में पिहित दोष लगता है। किसी भोजन बनाने वाले बर्तन पर कोई वजनदार चीज रखी हो और उसे कोई हल्की समझकर जल्दी से उठा ले तो वह ढक्कन गिर जाता है। जैसे जीने की सीढ़ी जब बराबर बराबर दूरी पर बनी होती हैं तो झट हिसाब से पैर रखते हुए चढ़ जाते हैं अथवा उतर जाते हैं और अगर सीढ़ी ऊँची नीची

बनी हैं तो अधिक सावधानी न रखने पर चढ़ने अथवा उतरने में पैर में मोच आ जाती है, इसी प्रकार समझ लो भोजन बनाये जाने वाले बर्तन में कोई वजनदार ढक्कन रखा हो तो उसे जल्दी जल्दी उठाने में गिर जाने का संदेह रहता है, तो उस बर्तन में बनी हुई भोजनसामग्री को साधुजन नहीं लेते हैं।

एषणासमिति में म्रक्षित, निक्षिप्त, छोटित दोष का परिहार- तीसरा है म्रक्षित दोष- घी तैल आदिक के द्वारा सचिक्कण हुए हाथ या चम्मच कटोरी आदि से दिये गए आहार के ग्रहण करने को म्रक्षित दोष कहते हैं। ऐसे चिकने हाथ से या चिकने बर्तन से छोटे जीवों को जरासी देर में बाधायें पहुंच सकती हैं। कहो घी की चिकनाई में कोई मक्खी ही आकर मर जाय। तो ऐसे सदोष आहार

को साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं। चौथा है निक्षिप्त दोष- जो भोजन वस्तु सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि बीज सहित और त्रस जीव पर रखी हो उस पदार्थ के ग्रहण करने को निक्षिप्त दोष कहते हैं। जिसमें किसी जीव को बाधा होती हो जिस बर्तन से कोई जीव दब गया हो या किसी सचित्त चीज पर रख दी गई हो तो उसे निक्षिप्त दोष कहते हैं, फिर उस भोजन को साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं। 5 वां है छोटित दोष। कुछ भोजन सामग्री को हाथ से गिराकर या असावधानी से अंगुली ढीली बना ले और उससे दूध पानी आदिक गिरता रहे तो ऐसी विधि को सदोष कहते हैं और उसमें से कुछ भोजनसामग्री गिरा दे, कुछ ग्रहण कर ले, न अच्छा लगे कोई दूध पानी रस वगैरह तो उसे अंगुली ढीली करके गिरा दे और इष्ट चीज को ग्रहण कर ले, यह तो साधु की विधि में नहीं है अथवा दातार के हाथ से ही भोजन गिर जाय या खुद के ही हाथ से भोजन टपकता रहे तो ऐसा आहार ग्रहण करने में दोष है।

साधुवों के निर्दोष आहार के परिज्ञान से गृहस्थों को योग्य कर्तव्य की शिक्षा- यह साधुवों की एषणासमिति की बात कही जा रही है। इससे यह शिक्षा लेनी कि जब इतनी बारीकी शुद्धि रखना आगम में बताया है साधु पुरूषों को तो हम भी अपनी शक्ति माफिक अपनी सीमा में कुछ तो विचार करें, यथातथा जितने चाहे बार खाना, गद्दी पर खाना, चलते हुए खाना, जूते पहिने खाना, ये सब कितनी गिरी हुई सी बातें हैं। कुछ इस पर ध्यान देना चाहिये और जो भी आलू, गोभी का फूल आदिक अभक्ष्य पदार्थ हैं उनको जो लोग खाते रहते हैं वे कितना मर्यादा से गिरे हुये हैं। रात्रिभोजन करना कितना सदोष काम है? किसी को रात को भोजन करते हुए भी देखते हुए बुरा सा लगता है कि क्या अनुचित काम हो रहा है? क्या यह शरीर अहर्निश खाने से ही स्वस्थ रहता है? कुछ तो पेट को भी आराम देना चाहिये। अहिंसा भी पले, पेट को आराम भी मिल, समय बचे, धर्मबुद्धि बने, ऐसे कामों को करने में आलस्य रखना यह तो एक अपनी बड़ी भूल है। देखो साधुजन कैसे-कैसे सूक्ष्म दोषों को टालकर भोजन करते हैं।

एषणासमिति में अपरिणत और व्यवहरणदोष का परिहार- छठवाँ है अपरिणत दोष प्रासुक जल आहार साधुवों को योग्य है। यदि कोई जल ऐसा हो कि जिसका स्पर्श, रूप, गंध, रस न पलटा हो और गृहस्थ ने उसे कुछ प्रासुक किया भी हो, पर वे साधु अपरिणत जल को देखेंगे तो ग्रहण न करेंगे क्योंकि प्रासुक जल में रूप, रस, गंध ये बदल जाया करते हैं। उससे परीक्षा रखते हैं कि यह जल ग्रहण करने योग्य है या नहीं है। यदि अपरिणत जल को वे साधु ग्रहण करें तो इसमें अपरिणत दोष है। 7 वां है व्यवहरणनामक दोष। यदि दातार अपने लटके हुए कपड़े को यत्नाचार रहित

खींचकर बर्तन चौकी आदि को घसीटकर या अन्य प्रकार की असावधानी रखकर आहार दे तो उस आहार ग्रहण करने को व्यवहरण दोष कहते हैं।

एषणा समिति में दायक दोष का परिहार- 8 वां है दायक दोष। कैसे पुरूष आहार दे सकते हैं और कैसे नहीं दे सकते हैं? इस सम्बन्ध में आहार देने वाला तो उत्तमजाति, उत्तम कुल का हो, सर्व अंग सम्पन्न हो, बहुत पवित्र धारणा वाला हो, सो आहार दे, पर कौनसे देने वाले अयोग्य हैं जिन्हें अपने हाथ से आहार न देना चाहिये उन दायकों की बात कह रहे हैं। जो व्यक्ति शराब पीता हो, वह व्यक्ति साधु को आहार नहीं दे सकता, जो रोग से पीड़ित हो, रोग तो सभी में रहते हैं, पर ऐसे रोग हों, कमजोरी हो, श्वास का रोग हो, खड़ा न हुआ जा सकता हो, ऐसे व्यक्ति साधु को आहार नहीं दे सकते। जिसको पिशाच मूर्छित कर देता हो, जैसे बहुत सी महिलायें ऐसी नजर आती हैं जिनको लोग कहते हैं कि इसे भूत लग गया है, पता नहीं वह कौनसा रोग है, वे स्त्रियाँ मूर्छित हो जाती है, अथवा कोई एक मिरगी का रोग होता है जिसका कुछ पता नहीं रहता कि कब वह मिरगी रोग वाला पुरूष अथवा महिला मूर्छित हो जाय। इसे दौड़ा की बीमारी भी कहते हैं, तो ऐसे रोग वाला पुरूष हो अथवा महिला हो उस साधु को आहार देने योग्य नहीं है, क्योंकि उसके पता नहीं कब बेहोशी आ जाय? वह बेहोश हो जाय तो साधुजनों के लिए अन्तराय का कारण है। कोई रजस्वला स्त्री हो अथवा बच्चा हुए 40 दिन न व्यतीत हो गये हों उसे आहार अपने हाथ से साधु को न देना चाहिये जो वमन कर आया हो ऐसा पुरूष अथवा स्त्री भी आहार देने योग्य भी नहीं रहता। किसी ने अपने शरीर में तेल लगा रखा हो उसे भी बिना स्नान किए साधु को आहार न देना चाहिये। कोई किसी खम्भा या भींत आदि में छिपकर आहार देना चाहे, उसके केवल हाथ दिखें, मानों वे हाथ किसी देव ने निकाल दिये हों ऐसे ढंग से भी यदि कोई आहार देना चाहे तो साधुजन आहार नहीं लेते। कोई साधु के पास किसी ऊँचे स्थान पर खड़े होकर या साधु से काफी नीचे स्थान पर खड़े होकर आहार देना चाहे तो वैसा आहार भी साधुजन नहीं लेते। कोई नपुंसक हो, जाति से बहिष्कृत हो, पतित हो या मूत्रक्षेपण करके आया हो, उसके हाथ का भी आहार साधुजन नहीं लेते। वेश्या हो अथवा संन्यास लिंग धारण करने वाला हो, 8 वर्ष से कम का बालक अथवा बालिका हो या कोई अत्यन्त वृद्ध पुरूष अथवा महिला हो, या कोई 5 महीने से अधिक की गर्भवती स्त्री हो तो ऐसे दातारों के हाथ से साधुजन आहार नहीं लेते। कोई अग्नि को जलाये, कोई अग्नि बुझाये, अग्नि से राख को ढांके, मकान लीपे अथवा अंग पर एक ही कपड़ा हो, दूसरा कपड़ा भी अंग पर न हो, ऐसे दातार के हाथ का साधुजन आहार नहीं ग्रहण करते।

एषणासमिति में लिप्त व विमिश्रदोष का परिहार तथा साधुवों की अन्तर्भावना- 9 वां है लिप्त नामक दोष। गेरू, खड़िया, आटा, हरित, अप्रासुक जल आदि में भीगे हुए हाथ या बर्तन द्वारा भोजन के ग्रहण करने को लिप्त दोष कहते हैं। इस प्रकार भीगा हुआ हाथ या बर्तन हो तो उससे साधुजन भोजन नहीं ग्रहण करते। 10 वां है विमिश्रदोष। जिस भोजन में सचित्त, पृथ्वी, जल, बीज, हरित और जीवित त्रस मिले हुए हों उस भोजन को मिश्रदोष से दूषित कहा है किसी भी ग्रहण की जाने वाली चीज में यदि कोई मरा हुआ त्रस जीव पड़ा हुआ है तो वह तो अभक्ष्य हो ही गया पर जिन्दा भी त्रस जीव पड़ा हो तो उसमें विमिश्रदोष हो गया। ऐसे सदोष आहार को भी साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं। आहार देने वाले का भाव निर्मल हो और भोजन करते हुए में वे साधुजन ऐसी भावना रखते हैं कि मेरा तो निराहार स्वभाव है। आहार करना मेरे आत्मा का स्वभाव नहीं, यह तो झंझट है। जन्म मरण से दूर होना है ना, और जन्म मरण की परम्परा बढ़ाने वाले इस शरीर का प्रेम दिखाने वाला यह भोजन इसको कहां उचित है। तो उसका निराहार स्वभाव है, परिस्थितिवश आहार ग्रहण करना पड़ रहा है। न जाने कब ऐसा समय आयेगा कि यह आहार का झंझट मिट जायगा। मैं तो एक ज्ञानानन्दपुन्ज हूं जहां आहार की प्रक्रिया ही नहीं है, ऐसे निराहार स्वभाव की भावना रखते हुये साधु आहार ग्रहण करते हैं। कितना अन्तर हो जाता है? अपने स्वभाव को चित्त में रखते हुए आहार करने में कितने दोष टल जाते हैं। दोष होते हैं राग से, उसके राग नहीं रहता। दोषों से रहित ही भोजन को साधुजन ग्रहण किया करते हैं।

काक और अमेध्यनामक अन्तराय- 46दोष टालकर उत्तमकुल वाले गृहस्थ के गृह पर विधिपूर्वक भक्तिसहित पड़गाहे जाने पर जो समस्त अन्तरायों को टालकर आहार ग्रहण करता है ऐसे योगी के एषणासमिति पलती है। अन्तराय 32 प्रकार के होते हैं। कुछ अन्तराय तो चर्या के लिए सिद्धभक्ति करने के बाद ही माने जाते हैं और कुछ अन्तराय घर पर भोजनशाला में पहुंचने पर उनकी भोजन प्रवृत्ति करने पर माने जाते हैं। उन अन्तरायों में प्रथम नाम दिया है काकनामक अन्तराय। आहार करने के लिए साधु जा रहे हों तब या आहार कर रहे हों तब साधु के शरीर पर कोई कौवा आदिक जानवर मलोत्सर्ग कर दे तो काकनामक अन्तराय है। चलती हुई हालत में तो प्राय: इसकी सम्भावना है, कोई उड़ता हुआ पक्षी बीट कर दे, पर छोटी-छोटी चिड़ियां तो भोजनशाला में भी पहुंच जाती हैं वहां बीट कर दें, या साधुवों का तो वन में भोजन होता था जहां पक्षी रहते थे, तो उनके द्वारा मलोत्सर्ग करने पर फिर अन्तराय हो जाता था, साधु आहार न ग्रहण करते थे। दूसरा अमेध्य अन्तराय है- आहार के लिए साधु जा रहे हों अथवा आहार के लिए खड़े हों मुनि उनके पैर-घुटने, जंघे आदिक किसी भी अंग पर कोई विष्टा आदिक अशुचिपदार्थ का स्पर्श हो जाय तो वह अमेध्यनामक अन्तराय है।

छर्दि, रोधन, रुधिरनामक अन्तराय- छर्दिनामक अन्तराय यदि किसी कारण मुनि को छोटा भी वमन हो जाय, जिसे लोग कहते कि कुल्लासा गिर गया, तो उसके बाद भी मुनिजन भोजन नहीं करते। जो जीव जितना मंदकषाय है वैराग्यप्रिय है, अनासक्त है उसको थोड़ासा भी विघ्न आने पर भोजन नहीं रुचता है, और जो लोग आसक्त है, मोही हैं, अज्ञानी हैं, जो भोजन में आसक्त हैं उन्हें तो अन्तराय हो जाय, कुछ भी हो जाय तो उसे कुछ नहीं गिनते। मुनिजन तो विरक्त भी हैं, ज्ञानी भी हैं, खाने का उद्‌देश्य भी नहीं है, केवल जीवन रखने के लिए कुछ आहार करना पड़ता है, ऐसे विरक्त संतों के थोड़ा भी विघ्न आये तो वे आहार ग्रहण नहीं करते। रोधन अन्तराय- आज भोजन मत करना, ऐसा कोई रोक दे तो यह मुनिजनों के लिए रोधननामक अन्तराय है। रूधिरनामक अन्तराय- अपने या अन्य किसी के शरीर से रूधिर पीप आदिक निकलता हुआ मुनि को दिख जाय तो यह भी उनके लिए रूधिरनामक अन्तराय है। इन समस्त अन्तरायों में ऐसी परीक्षा करते जाना कि देखो कितने अनासक्त हैं ये योगीश्वर कि रंच भी बाधा आये तो आहार फिर नहीं लेते। वैसे तो ध्यानादिक में बैठे हुए कठिन से कठिन उपसर्ग आयें वहां वे बड़े कठोर (कड़े) बन जाते हैं। उन समस्त उपसर्गों को वे समता से सह लेते हैं। पर आहार का प्रसंग ऐसा हैं कि मुनियों की बात तो ऊँची है ही, मगर गृहस्थ भी थोड़ा बहुत विघ्न आ जाय, मन बिगड़ जाय, परोसने वाले की प्रीति न दिखे तो साधारण गृहस्थ से भी भोजन नहीं लेते बनता। और जो आसक्त हैं वे पिटते भी जाते और खाते भी जाते हैं।

अश्रुपात, जान्वध:परामर्श व जानूपरिव्यतिक्रम अन्तराय- अश्रुपात अन्तराय- शोक से अपने या दूसरे के अश्रु बह जाने को या किसी के मरने आदि कारण से जोर से रोने का शब्द सुनाई पड़े जिससे उनके भी नेत्रों से आंसू निकल आयें यह सहसा बोध हो जाता है तो वह अश्रुपात नामक अन्तराय हो जाता है। जान्वध:परामर्श अन्तराय सिद्धभक्ति के अनन्तर कदाचित् घुटनों के नीचे के हिस्से का हाथ से स्पर्श हो जाय तो वह जान्वध:परामर्श नामक अन्तराय है। कोई सोच सकता है कि यदि हाथ से घुटने के अंग छू गए तो अन्तराय की कौनसी बात आ गई? लेकिन यह तो सोचो कि यदि घुटनों के नीचे किसी मच्छर ने काट लिया और उसे जरासा खुजाने लगे तो इसमें कायरता का दोष आ जाता है तो वहां अन्तराय हो जाता है। जानूपरिव्यतिक्रम अन्तराय- घुटने तक या ऊँचे या इससे अधिक ऊँचे पर लगे हुए अर्गल, पाषाण आदि को लाँघकर जाना सो जानूपरिव्यतिक्रमनामक अन्तराय है। इसमें भी किसी को यह शंका हो सकती है कि इतना सा लाँघकर चले जाने मात्र से कौनसा अन्तराय हो गया, तो वहाँ भी दीनता और कायरता की बात आती है कि देखो इन्हें आहार ऐसा प्रिय हो गया कि इतना ऊँचे नीचे स्थानों को लाँघकर भी जाते हैं। तो जो विरक्त पुरूष हैं, उनको इन तरह से आहार करने जाना योग्य नहीं होता, अत: वह उनके लिए जानूपरिव्यतिक्रम

नामक अन्तराय है। जैसे छोटे लोग बिना बुलाये ही चौके में घुसकर भोजन को उठाकर खा लेते हैं और जो राजा लोग हैं, रईस जन हैं वे तो इस तरह से नहीं खाते, वे तो बड़ी विधिपूर्वक भोजन करते हैं। लोग बड़े आदर से हाथ जोड़कर मनाकर उन्हें भोजन कराते हैं। वे यदि अपने ही घर में घुसकर किसी डिब्बा आदिक से कुछ भोजनसामग्री निकालकर खाने लगें तो यद्यपि वे खाते हैं अपना ही, पर उसे भी वे चोरी ही समझते हैं। उस तरह से भोजन करते समय उन राजा अथवा रईस लोगों के मन में ऐसी बात तो दो एक बार आ ही जाती होगी कि कोई देख तो नहीं रहा है। और यदि उनके ऐसा भाव आ गया तो यही चोरी है। तो सबकी स्थितियाँ अलग अलग होती हैं। योगी पुरूष आहार के लिए जा रहे हों और ऊँचे ऊँचे पत्थर लाँघकर जाना पड़े तो वह उनके लिए अन्तराय है।

नाभ्यधोनिर्गम, प्रत्याख्यातसेवन, जन्तुबध, काकादिपिण्डहरण, पाणिपिण्डपतन, पाणिजन्तुबध अन्तराय- नाभ्यधोनिर्गम अन्तराय- यदि अपने शरीर को नाभि से नीचे करके किसी द्वार से निकलना पड़े तो वहां अन्तराय हो जाता हैं। इन अन्तरायों में योगियों के वैराग्य का निरीक्षण करते रहें। वे कितने विरक्त पुरूष हैं कि सहजवृत्ति से जायें और आहार मिले तो उन्हें स्वीकार है मगर कठिनता से हड़बडा़कर जाकर वे आहार नहीं ग्रहण करते। प्रत्याख्यातसेवन नामक अन्तराय- किसी चीज का त्याग किया हों और वह चीज खाने में आ जाय बस उसके बाद वे आहार का त्याग कर देते हैं। जन्तुबधनामक अन्तराय- यदि अपने ही सम्मुख कोई चूहा, बिल्ली, कुत्ता आदिक जीवों का घात होता दिख जाय तो वह जन्तुबध नामक अन्तराय है। काकादिपिण्डहरण अन्तराय- काक चील आदिक जानवर के द्वारा हाथ पर से ग्रास के ले जाने को या छू जाने को काकादि पिण्डहरण नामक अन्तराय कहते हैं। पाणिपिण्डपतन अन्तराय- कोई मुनि भोजन कर रहे हों और हाथ की अंगुली खुल जाने से भोजन का कोई ग्रास नीचे गिर जाय तो उसे पाणिपिण्डपतन नामक अन्तराय कहते हैं। पाणिजन्तुबध अन्तराय- भोजन करते हुए में मुनि के हाथ आदिक पर कोई मक्खी आदिक जंतु आ जाय और घी आदिक चिकनी चीज के लगे होने से वह मर जाय तो वह पाणिजन्तुबध नामक अन्तराय है।

मांसदर्शनादि, उपसर्ग, पादारन्तपन्चेन्द्रियगमन, भाजनसंपात, उच्चार, प्रस्रवण, अभोज्य गृहप्रवेश, पतन, उपवेशन अन्तराय- मांसदर्शनादि अन्तराय भोजन करते हुए में मुनि को मद्यमांसादिक दिख जायें तो यह मद्यदर्शनादि अन्तराय है। उपसर्गनामक अन्तराय- भोजन करते हुए यदि देव मनुष्य या तिर्यंच किसी के द्वारा कोई उत्पात हो तो वह उपसर्गनामक अन्तराय है। पादान्तरपन्चेन्द्रियागम अन्तराय- भोजन के लिए मुनि चल रहे हैं, आहार के समय खड़े हुए हैं और उनके पैरों के बीच

कोई पन्चेन्द्रिय जीव आ जाय तो वह पादान्तर पंचेन्द्रियागमनामक अन्तराय है याने ऐसी आकस्मिक घटना होने पर विरक्त पुरूषों को भोजन की उत्सुकता नहीं रहती। भाजनसंपात अन्तराय- साधु को आहार देने वाले के हाथ से कटोरा आदिक पात्र गिर जाय तो यह उनका भाजनसंपात नामक अन्तराय है। साधु भोजन को जा रहे हों या आहार कर रहे हों उस समय कोई विष्टामल आदिक निकल आवे तो यह उच्चारनामक अन्तराय है। अश्रवण अन्तराय- साधु के अगर मूत्र का स्रवण हो जाय तो यह भी उनका अन्तराय है। अभोज्यगृहप्रवेश अन्तराय- भिक्षा के लिए साधु जा रहे हैं और कोई अच्छा सा घर जानकर उसमें घुस जावें, और बाद में किसी तरह पता चल जावे कि यह तो चांडाल का घर है तो यह भी उन साधुजनों का अन्तराय है। पतननामक अन्तराय- साधु के मूर्छा, भ्रम, श्रम, रोग आदि के कारण भूमि पर गिर जाने को पतननामक अन्तराय कहते हैं। और यह तो गिरने की बात है। कमजोरी आदिक के कारण यदि साधु भूमि पर बैठ जाय तो यह भी उसके लिए एक अन्तराय है। ऐसे अन्तराय को उपवेशन अन्तराय कहते हैं। मुनिजन खड़े होकर भोजन किया करते हैं। खड़े होकर भोजन करने में पेटभर भोजन न खाया जाता होगा, इसी कारण उन्होंने खड़े होकर भोजन करना पसंद किया होगा, या उनको आत्मा के ज्ञानध्यान का इतना जोर शोर से काम लगा हुआ है कि उन्हें बैठकर अच्छी तरह खाने की फुरसत ही नहीं है। आये झट खड़े खड़े कुछ आहार ले लिया और चल दिया। तो वे आहार करने जाते समय यदि किसी कारण से भूमि पर बैठ जायें तो यह उनका अन्तराय है। ऐसा अन्तराय हो जाने पर फिर वे मुनिजन आहार नहीं ग्रहण करते हैं।

संदंश, भूमिस्पर्श, निष्ठीवन उदरकृमिनिर्गमन व अदत्तग्रहण अन्तराय- संदेश अन्तराय- भिक्षा के लिए जाते समय या आहार करते समय यदि कोई कुत्ता बिल्ली आदिक जानवर उन्हें काट ले तो फिर उनका अन्तराय हो जाता है। यदि ऐसी हालत पर भी वे अन्तराय न मानें तो फिर वे आहार में बहुत अधिक आसक्त कहलायेंगे तो ऐसे अन्तराय का नाम संदंश अन्तराय है। भूमिस्पर्श अन्तराय- सिद्धभक्ति करने के बाद मुनिजन आहारचर्या को गए और रास्ते में या कहीं हाथ से भूमि का स्पर्श हो गया तो यह उन मुनिजनों के लिए भूमिस्पर्शनामक अन्तराय है। निष्ठीवननामक अन्तराय- आहार करते हुए में मुनि के कफ, थूक, नाक आदिक निकल आये तो वह निष्ठीवननामक अन्तराय है। गृहस्थ लोग तो नाक थूक आदि पोंछने के लिए रूमाल रखते हैं, महिलाएँ भी अपनी धोती साड़ी आदिक से पोंछकर रूमाल से पोंछकर नाक कफ आदि संभाल लेती हैं, पर मुनिजनों के पास क्या है नाक कफ आदि पोंछने के लिए? नाक, कफ, थूक आदिक निकल आने पर फिर साधुजन आहार नहीं ग्रहण करते हैं। यह निष्ठीवन अन्तराय है। उदरक्रिमिनिर्गमन अन्तराय मुखद्वार से अथवा गुदा द्वार से मुनि के पेट के कीड़े निकल आयें तो यह भी उनके लिए उदरक्रिमिनिर्गमन नामक अन्तराय

है। अदत्तग्रहण नामक अन्तराय- दातार के दिए बिना ही भोजन औषधि ग्रहण कर ली जाय या संकेत करके भोजनादि ग्रहण किया जाय तो उसे अदत्तग्रहण नामक अन्तराय कहते हैं।

प्रहार, ग्रामदाह, पादग्रहण व हस्तग्रहण, अन्तराय- प्रहार नामक अन्तराय- अपने ही निकट में किसी पर कोई प्रहार करता हुआ दिख जाय तो यह भी मुनिजनों का अन्तराय है। ग्रामदाह अन्तराय जहाँ पर मुनि निवास करता हो वहीं पास में ही किसी ग्राम में भयंकर अग्नि लगी हो तो ऐसे समय में भी मुनिजन अन्तराय मान लेते हैं, कारण कि उस समय लोगों में बड़ी खलबली मच जाती है और हाहाकार भी हो रहा है ऐसे समय में वे आहार ग्रहण करें, यह कहां सम्भव है? पादग्रहण अन्तराय- जैसे लोग किसी वस्तु को पैर की अंगुलियों से दाबकर कोई चीज उठा लेते हैं ऐसे ही यदि मुनि भी किसी चीज को अपने पैर की अंगुलियों में दाबकर उठा ले तो यह भी उसके लिए पादग्रहण नामक अन्तराय है। हस्तग्रहण अन्तराय- भूमि पर रखी हुई किसी वस्तु को यदि मुनि हाथ से उठा लें तो यह भी उनके लिए अन्तराय है। याने मुनिजनों की ऐसी सहजवृत्ति हो जिसमें आसक्ति की बात न आये वह तो उचित है और उसके विरूद्ध बातें अन्तराय में शामिल हैं। ये सब अन्तराय हैं। कोई अन्तराय चर्या में होते हैं, कोई अन्तराय आहार करते समय होते हैं। इन समस्त अन्तरायों को टालकर योगीजन आहार ग्रहण किया करते हैं, इतना वे आहार में अनासक्त है।

योगसाधना में प्रतिष्ठापनासमिति का व्यवहार- जिन पुरूषों ने इन समागमों की असारता जान करके और अपने आपके लदे हुए इस शरीर की असारता जान करके वैराग्य पा लिया है ऐसे पुरूषों का मन अब न तो मोह में लगता है, न विषयों के भोगने में लगता है। संसार शरीरभोगों से विरक्त होकर आत्मध्यान के लिए सब कुछ संन्यास करके वन में जाते हैं और वहाँ आत्मध्यान किया करते हैं। ऐसे योगी शरीर से इतने विरक्त हैं कि वे कंकरीली जमीन पर सो रहे हैं तो एक ही करवट से सोते हैं। कदाचित् थकान के कारण करवट बदलनी पड़े तो उस पीठ के नीचे की जमीन को और पीठ को भी पिछी से झाड़कर करवट लेते हैं। कभी उन्हें थूकना पड़े तो जमीन को शोध करके वहाँ वे मल मूत्र का क्षेपण करते हैं, इतने दयालु हैं और वैराग्यवान् भी विशेष हैं।

योगियों का सुगम रम्य पुरूषार्थ- योगीजन साक्षात् अहिंसा की मूर्ति हैं, ऐसे योगीजन क्या किया करते हैं अपने आपके अन्दर? तो अत्यन्त पवित्र ज्ञानज्योतिस्वरूप अनुभव किया करते हैं- मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, मैं अन्यरूप नहीं हूं, यही निरन्तर अनुभव किया करते रहते हैं। ऐसा न सोचे कोई कि वे योगीजन अकेले जंगल में आखिर क्या किया करते हैं? वे तो ज्ञानस्वरूप अपने आपको अपनी नजर में लिए रहते हैं और यह इतना लम्बा काम है, इतना महान् काम है, इतना अधिक विस्तार को देने वाला ज्ञान है कि ज्ञानानुभव में उनका सारा जीवन व्यतीत होता है। इससे बढ़कर और कोई

हित का काम भी नहीं है। ये योगी पुरूष तीन गुप्तियों से सहित होते हैं- मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।

योगियों की मनोगुप्ति- यह मन विषयकषायों में विकल्पों में विचर विचरकर ऊधम मचाया करता है, अपनी चाह के बड़े पुल बनाया करता है। इसी से तो शेखचिल्ली बन जाता है। कुछ न कुछ कल्पनायें सभी बना रहे हैं। उन कल्पनाओं से मिलता-जुलता कुछ भी नहीं। एक पुरूष खाट पर लेटा हुआ था। पत्नी बैठी थी। दोनों गप्पें मार रहे थे। पत्नी ने कहा क्यों जी अपने अगर एक लड़का हो गया तो उसे कहां सुलावोगे? तो वह पुरूष उस खाट में थोड़ासा सरककर कहता है कि वह बच्चा यहां सो लेगा। और अगर दूसरा हो गया तो? जरासा और खाट पर सरक जाता है और कहता है कि यहां सो लेगा और तीसरा हो गया तो वह कहा सोयेगा? तो इस बार ज्यों ही वह खाट पर से जरासा सरका कि नीचे गिर गया और एक टाँग टूट गयी। तो अब वह कहता है, हमें नहीं चाहिये ऐसे लड़के। जब लड़के नहीं हैं केवल लड़कों की कल्पना ही बना रहे थे तब तो यह टाँग टूटी और अगर सचमुच ही हो गये तो न जाने क्या हाल होगा? तो यह मन अनेक प्रकार के कार्य के पुलावा बाँधा करता है, जिनसे इस आत्मा का कुछ भी लाभ नहीं है। वे मुनिजन जो मनोगुप्ति के धारी होते हैं मन को इतनी केन्द्रित रखते हैं कि कुछ भी विचार नहीं करते, बिल्कुल शून्य जैसी स्थिति उनके उपयोग की बन जाती है। ये मन में उठने वाले जितने प्रवर्तन हैं ये प्रभुता के दर्शन को रोकते हैं।

त्रिगुप्तिबल से विशिष्ट ज्ञान का लाभ- जिन योगीजनों के ये मन, वचन, काय तीनों तृप्तियां भली प्रकार सध जाती हैं उन पुरूषों को अवविज्ञान सुगम हो जाता है, मन:पर्यायज्ञान सुगम हो जाता है। एक बार जब श्रेणिक महाराज ने बदला चुकाने के लिए अपनी रानी चेलना से कहा कि तुमको इस जगह आहार बनाकर मुनियों को आहार कराना है। तो वह जगह ऐसी थी कि वहां हड्डियां गड़वाकर ऊपर से कुछ मिट्टी डाल दी गयी थी। खैर चेलना ने, आहार तैयार किया पर जब पड़गाहने तो खड़ी हुई तो क्या कहा- हे त्रिगुप्तिधारक महाराज ! तिष्ठ-तिष्ठ। अब उन आने वाले सभी मुनियों ने यही सोचा कि यह तो त्रिगुप्तिधारक मुनियों के लिए बोल रही है सो अपने आपके विषय में सोचकर कि हम अभी त्रिगुप्तिधारी नहीं हुए हैं, सभी मुनि लौट गए। इस दृश्य को देखकर राजा श्रेणिक बड़ा प्रभावित हुआ कि देखो इन मुनिराजों को इतना ज्ञान हो गया है कि पहिचान गये- यह आहार अशुद्ध जगह में तैयार किया गया है। इन तीन गुप्तियों का बहुत बड़ा प्रभाव होता है। आत्मा में भैया ! जितने भी क्लेश हैं प्राय: करके मन के हैं। कोई बड़े से बड़ा पुरूष हो, उसे किसी भी प्रकार की

असुविधा न हो, फिर भी वह मन में कुछ न कुछ कल्पनायें बनाकर क्लेश मानता है। तो ऐसे मन को वश में करके ये योगीजन अपने आत्मा के ध्यान में अपना समय लगाते हैं।

ज्ञानमय आत्मप्रभु की ही वास्तविक शरणरूपता- संसार में सार सिवाय एक अपने आत्मप्रभु का शरण लेने के और कुछ हो तो बतलावो। किसका शरण गहें कि जीवन सुखी हो जाय? सबसे धोखा मिलेगा। कदाचित् ऐसा भी समागम मिल जाय कि जो बड़े अनुकूल हों, आप प्रसन्नता से उनके बीच रह रहे हों, पर वे समागम सदा रह सकेंगे? उनका वियोग तो होगा ही। वियोग होने पर फिर बड़ा क्लेश मचाना पड़ेगा। संसार के इन सुख समागमों में रमकर इस जीव का गुजारा न चलेगा। पहिले तो यह कठिन है कि जिन जीवों का संयोग हुआ है वे मेरे मन के अनुकूल चलें। और कदाचित् कोई अनुकूल भी चले, ऐसा भी समागम मिले, मगर वह समागम क्या सदा रहने वाला है? उसका तो विछोह होगा? तब फिर सार तो न रहा यहां किसी में मोह करने में। मोह में रहकर कोई भी जीव शान्ति नहीं पा सकता। शान्ति का मार्ग तो इस जीव को मोह के छोड़ने में ही प्राप्त होगा। अब घर में रहते हैं। बहुत समागम है पर मन तो आपका आपके पास है, ज्ञान तो आपका आपके ही पास है। उनके बीच रहकर भी आप ऐसा विचार चिन्तन कर सकते हैं कि आपका धर्ममार्ग भी सध सके। बच्चे को खिलाते हुए भी यह ज्ञान अगर रखें कि यह जीव न्यारा है, मैं न्यारा हूं, इस जीव से वास्तव में नाता कुछ नहीं है। यह आ गया किसी भव से, गृहस्थी में है तो जो हमारा कर्तव्य है सो करें पर यह है अत्यन्त भिन्न पदार्थ। इसी प्रकार गृहस्थी के बीच जितने भी नाते हैं उनमें ऐसी ही भिन्नता की दृष्टि रखे तो उसका गृहस्थी के बीच भी मोक्षमार्ग सध रहा है। इसी प्रकार की बुद्धि धन दौलत मकान महल आदि के प्रति रखे, ये कुछ भी मेरे नहीं है, मैं तो इनसे अत्यन्त भिन्न हूं, इनसे मेरा कुछ भी हित नहीं है, ये कोई भी समागम मेरी मदद करने वाले नहीं हैं। मेरी मदद करने वाला तो मेरा यह शरीर भी नहीं है, खुद को ही खुद की मदद करना होगा। तो योगीजन कल्याणोचित सब ज्ञान करके अपने एकान्तपन की साधना में रहकर सर्वपरिग्रहों की कल्पनायें तजकर आत्मसाधना में अपना समय लगाया करते हैं। वे मनोगुप्ति के धारक योगीश्वर सबकी उपासना के योग्य हैं।

योगियों का वाग्गुप्तिपालन- योगी पुरूष वचनगुप्ति का भी पालन करते हैं। वे वचन बोलना ही नहीं चाहते। किससे बोलें? किससे बोलकर हमारा कुछ हल होगा? क्यों बोलने की क्रिया करें, क्यों ये श्रम करें, क्यों ये विकल्प उठायें। सो वे वचनों का परित्याग करते हैं, और भीतर में कुछ वचन उठ भी रहे हैं उन्हें नहीं रोका जा सकता है तो ऐसा अन्तर्जल्प करते हैं कि अपने आपके अन्दर प्रश्न करते हुए आत्मा के ही बारे में सारे प्रकाश को निरख रहे हैं, उस ज्ञानमयस्वरूप से अनुभव रहे हैं,

उस काल में जो कुछ भी अन्तर्जल्प हो रहा वह हो रहा, किन्तु कोशिश उस अन्तर्जल्प को दूर करने की करते रहते हैं। भीतर में इतने भी असली शब्द न उठें कि मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, उससे भी परे होकर निस्तरंग केवल आत्मा आत्मा का ज्ञान करूँ, इस प्रकार उनकी धारणा रहती है तो जहाँ इस प्रकार वचनगुप्ति का पालन किया है वे योगीश्वर अन्यत्र क्या काम करें? वे अपने आपके आत्म में इस ही ज्ञानज्योतिस्वरूप का निरन्तर ध्यान करते रहते हैं और यही कारण है कि हम आप ऐसे योगीश्वरों की उपासना में रहा करते हैं।

योगियों का बोलने की उपेक्षा का भाव- अध्यात्मयोग में बर्तने वाले संतजन ज्ञानानन्दस्वरूप निजअंतस्तत्त्व की रूचि के कारण अपने आपमें ही समाये रहना चाहते हैं। मन, वचन, काय की क्रियाओं में उनका अनुराग नहीं हैं। इस कारण अब किस पर का वे विकल्प करें? किसी पर में भी रूचि नहीं, पर के विकल्प में भी रूचि नहीं। मैं पर से रहित, विकल्प से रहित केवल एक ज्ञानज्योतिस्वरूप हूं ऐसा उन्हें दर्शन हुआ है, इस दर्शन के प्रताप से विशुद्ध आनन्द का अनुभव हुआ है। अब उनका अन्यत्र कैसे प्रेम जाय? तो अध्यात्मस्वरूप में रूचि होने के कारण उनकी वचनगुप्ति भली प्रकार सध रही है। किससे बोलना? जो दृश्यमान कुछ है यह तो अजीव है, जीव तो दृश्य नहीं होता। जीव में रूप, रस, गंध स्पर्श है नहीं। मैं अजीव से बोलकर क्या करूँ और जो जीव है, ज्ञानघन आनन्दस्वरूप, अमूर्त भावमात्र जो जीवतत्त्व है उससे बोलता कौन है? बोले कौन? किससे बोलना? इन मायामय जीवों से क्या चाहना, आदि अनेक चिन्तन करके ज्ञानी पुरूषों को वचनों की प्रवृत्ति की भी धारणा न रही, सो वे वचनगुप्ति में अपना अधिक समय लगाते हैं।

योगियों के वचनगुप्ति के योग से उपादेय शिक्षा- हम आपको भी उनकी इस वचनगुप्ति के योग से यह शिक्षा लेनी है कि बहुत कम बोले, और बहुत कम बोलने पर जब आवश्यकता होगी बोलना पड़ेगा तो वह बोल संयत निकलेगा। यदि आदत में ही खूब बोलना रख लिया तो खूब बोलने की आदत में कई बोल ऐसे निकलेंगे जो अनावश्यक होंगे। कुछ सभ्यता से विरूद्ध वचन मुख से निकल जाने पर व क्रिया अपने में कुछ दीनता और अयोग्यता का अनुभव करने लगता है, और जब स्वयं ही अपने आपमें अयोग्यता व दीनता का अनुभव होगा तो फिर अब वह मुक्तिमार्ग का काम कैसे करेगा? भैया ! कम से कम बोलना यह जीवन का बहुत अच्छा गुण है। यह आत्महित की भी बात है और लौकिक जीवन में बहुत सुन्दर निभाने का बहुत बढ़िया साधन है। बोलना कम, सुनना ज्यादा। इसीलिए बोलने की चीज (जीभ) एक मिली है और सुनने के लिए दो कान मिले हैं। अत: बोलने की अपेक्षा सुनने का काम दूना करें, याने सुनने से आधा बोला करें उस बोलने में भी नियंत्रण होना चाहिये कि अपना विनयगुण न जाता रहे। विनयगुण से मतलब केवल हाथ जोड़ना,

सिर नवाना नहीं किन्तु गुरूजनों के गुणों का आदर होना, उनका उपकार न भूलना, कृतघ्न न होना, यह सब विनय है। जिन गुरूजनों के उपदेश का श्रवण कर हम ज्ञानी बने हैं और वास्तविक दर्शन जिनके प्रसाद से प्राप्त हुआ है उनके प्रति हम कृतज्ञ बनें, उनके दोषों को न देखें बल्कि उनके गुणों पर दृष्टि दें। इससे तो हमें लाभ प्राप्त होगा और यह जो दुनिया की वाहवाही चाहने की बात है वह तो एक असार बात है, अपने आपको पतन की ओर ले जाने वाली बात है।

विशुद्ध विनम्र भावना से कल्याणलाभ- मैं तो इतना पढ़ लिखकर भी ज्ञानी नहीं बना हूं, मैंने तो अभी कुछ नहीं समझा, मुझे तो समझना है, चाहे छोटे-छोटे बालकों से भी कोई अच्छी बात सुनने को मिले, पता नहीं वह पवित्र आत्मा किस समय क्या बढ़िया बात कह दे, वह भी कोई पवित्र आत्मा है, यह भी पहिले किसी बड़े पद पर रहा होगा, यों पवित्र भावना रखकर किसी की उपेक्षा न रखकर हमें जो ज्ञान मिले उसे ले लें और गुणपूरक वचन बोलें। जिसमें किसी के गुण की तारीफ हो ऐसी तो कथा करना। पर किसी के दोष का सम्पादन हो ऐसी वाणी न बोलना। यह एक बड़ा भारी गुण है। पूजा करते हुए में आप सब भी पढ़ा करते हैं कि- 'सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्' मैं गुणियों के गुणियों की कथा तो करूँ और दोषों को कहने में मैं पूर्णमौन रहूं, तभी हममें वचनगुप्ति की पात्रता आ सकती है। तो कम बोलना, हितमित बोलना, नियंत्रित बोलना, यह हम आपके लिए कल्याणकारी चीज है। अपनी ऐसी भावना बने और यत्न भी हो कि मैं न बोलूँ तो ऐसी स्थिति में अपने आपमें अपने उपयोग को जमाकर मनमाना सुरस अमृत पीता रहूंगा। वह तो लाभ की बात होगी, पर वचनों का यह श्रम और यह हैरानी यह लाभ की बात नहीं है। ऐसी प्रतीति होने के कारण ये अध्यात्मयोगी संत वचनगुप्ति का पालन करते हैं।

योगियों का कायगुप्तिपालन- तीसरीगुप्ति है कायगुप्ति। शरीर को वश में करना, इतना वश में करना कि यह हिलेडुले तक भी नहीं। बहुत निरखना, सिर हिलाना, आँखें मटकाना, गर्दन हिलाना, बड़ी कला दिखाना ये बातें योगी संतजनों में नहीं हुआ करती हैं। वे शान्ति और काययोग की गुप्ति का ही यत्न रखने वाले संतजन जब कभी चलते हैं तब समितिपूर्वक चलते हैं और चाहते हैं कि हमारा अधिक समय अपने आपके चिन्तन में जाय। वहाँ उनके कायगुप्ति स्वत: होती है। जब रानी चेलना ने पड़गाहते समय यह कहा था कि हे त्रिगुप्तिधारक अत्र तिष्ठ तिष्ठ, तो ऐसा सुनकर कोई भी मुनि आहार करने न आया। उनके न आने का कारण यही था कि उनमें से कोई भी मुनि त्रिगुप्तिधारक न था। सभी मुनियों ने यही सुना- हे त्रिगुप्तिधारक महाराज, अत्र तिष्ठ तिष्ठ, तो ऐसा सुनकर उन सभी मुनियों ने अपने आपके विषय में सोचा था कि मेरे अभी अमुक गुप्ति नहीं है, तो किसी मुनि के अभी मनोगुप्ति न हुई थी, किसी के वचनगुप्ति न हुई थी और किसी के कायगुप्ति न हुई थी सो सभी

मुनि यही सोचकर लौट गए कि इसने तो त्रिगुप्तिधारी मुनि को पड़गाहा हैं। तो वह मुनि तो त्रिगुप्तिधारी न होने के कारण न आये और कोई मुनि जो त्रिगुप्तिधारी थे वे इसलिए आये कि उन्होंने पड़गाहते समय ही यह जान लिया था कि जिस जगह आहार बनाया गया है वह जगह अशुद्ध है, उसमें बहुत सी हड्डियाँ गढ़ी हुई हैं। तो जब कोई भी मुनि आहार करने न आया तो बाद में राजा श्रेणिक ने उनमें से कई मुनियों से आहार न लेने का कारण पूछा। तो एक मुनि ने यों कहा कि उसने तो त्रिगुप्तिधारक मुनि को पड़गाहा था। मेरे तीन गुप्तियों में एक कायगुप्ति न थी जिससे मैंने आहार नहीं लिया। तो राजा श्रेणिक ने पूछा- महाराज कैसे कायगुप्ति नहीं पली? तो उस मुनि ने बताया कि देखो- एक बार मैं मृतकासन में एक श्मशान में पड़ा हुआ था, कुछ अँधेरा सा था, उस समय किसी ऋद्धि की सिद्धि करने वाला पुरूष आया और मेरी खोपड़ी को ईंट समझकर मेरी ही खोपड़ी के बगल में एक ईंट और रखकर चूल्हा सा बनाकर आग जलाकर खिचड़ी पकाना शुरू किया था, उस समय जब अग्नि की भयंकर जलन मैं न सह सका तो जरा सा मेरा शरीर हिल गया था, तो इससे मैंने अनुभव किया था कि अभी मुझे कायगुप्ति नहीं प्राप्त हुई है। तो ये योगीश्वर इस तरह के कायगुप्ति के वश करने वाले हुआ करते हैं तो ऐसे कायगुप्ति के धारक मुनिराज कर्मों की विशुद्धि के लिए वन में तपश्चरण किया करते हैं।

योगियों की शिवसुखनिधि से समृद्धता- भैया ! देखो जिनके पास कुछ भी परिग्रह नहीं, कोई दूसरा साथी नहीं, एक शरीरमात्र ही जिनके साथ है ऐसे योगीपुरूषों के पास कौनसी निधि है जिसके कारण वे जंगल में रहकर भी गौरवशील बने हुए हैं, बहुत आनन्द पा रहे हैं? जैसे कोई धनी मुसाफिर जिसके पास ट्रेवुलर चेक रखे हुए हैं, वह जहां चाहे खाली हाथ रहकर भी महीनों की मुसाफिरी कर लेता है पर उसे कहीं असुविधा नहीं रह सकती तो इसी तरह वन में विहार करने वाले योगीश्वर कौनसी निधि अपने पास रखे हुए हैं जिसके बल पर वे जरा भी दु:खी नहीं होते और आनन्दमय रहा करते हैं? उनकी वह निधि है शिवसुख, कल्याणमय आनन्द, स्वाधीन आत्मीय आनन्द। ज्ञानस्वरूप को ज्ञान में लेने पर, ज्ञानानुभव होने पर जो एक विशुद्ध आत्मीय आनन्द जगता है उस शिवसुख को वे अपनी दृष्टि में, अपने उपयोग में रख रहे हैं और यों भी समझिये कि जैसे कोई गृहस्थी में रहने वाली अत्यन्त क्षीणकाय बुढ़िया उसके अपने ही पास बहुत सा धन हस्तगत होने के कारण वह बड़ी खुशहाल रहा करती है इसी प्रकार समझलो ये योगीश्वर जंगल में अकेले रहकर भी शिवसुख की निधि पास में होने के कारण बड़े प्रसन्न रहा करते हैं। उनको तो कैसी भी भीषण परिस्थितियाँ आयें पर उनके उस शिवसुख निधि का एक ऐसा प्रताप है कि वे मुनि वन में भी रहकर, अकेले भी रहकर किसी भी स्थिति में रहकर बड़े प्रसन्न रहा करते हैं, किसी भी स्थिति में वे घबड़ाते नहीं हैं। तो उन्होंने मन में उस शिवसुख को धारण किया है। वह समृद्धि वह निधि उन्होंने

अपने आपमें रखी है जिसको लिए हुए वे वन में भी विहार कर रहे हैं, रह रहे हैं और तपश्चरण कर रहे हैं, कठिन स्थितियाँ भी आयें तो भी उनकी निर्मलता कहीं जाती नहीं है, ऐसे वे योगीश्वर कर्मों की विशुद्धि के लिए घोर तपश्चरण करते हैं ऐसे योगीजन वीतमोह होते हैं। उनमें मोह नहीं रहता, वे मोह से रहित होते हैं। मोह मायने पर में लगाव। पर के प्रति अज्ञान भाव नहीं रहा, अपना स्वतंत्रस्वरूप अपने चतुष्टय से जैसा है उस विशुद्ध आत्मस्वरूप को वे उपयोग में लिए हुए हैं। ऐसे वीतमोह साधु कर्मों को दूर करने के लिए, भावकर्म की विशुद्धि के लिए, आत्मशोधन के लिए वे आन्तरिक अध्यात्मरमणरूप परम तपश्चरण किया करते हैं।

योगियों की ध्यानाध्ययनवशंगतता- महाव्रतों से युक्त, पंचसमितियों के पालनहार, 3 गुप्तियों में तत्पर, अपने मन में मोक्षसुख को धारण करने वाले निर्मोह योगी स्वतंत्र है, निरपेक्ष हैं, मगर ध्यान और अध्ययन के वश में पड़ गए। ध्यान अध्ययन यद्यपि स्वतंत्रता के ही सहकारी कारण हैं, तथापि भक्तिवश एक तो इस तरह देखें कि वे ध्यान और अध्ययन के वश में पड गए है और दूसरे इस तरह भी देख सकते हैं कि ध्यान और अध्ययन में तत्पर रहने वाले ये योगी इस ध्यान और अध्ययन को भी अन्तरंग से नहीं चाहते हैं। इस ध्यान के अध्ययन के विकल्पों से परे निज अंतस्तत्त्व की रूचि रखा करते हैं। जब इस दृष्टि से देखें तो यह भी कहना युक्त है कि वे योगी ध्यान और अध्ययन के वश में पड़ गए हैं। जैसे कोई स्वच्छन्द रहने वाले बच्चे के सम्बन्ध में माता-पिता सोचते हैं कि क्या उपाय करें, यह तो बड़ा स्वच्छन्द हो गया है। कितना ही समझायें, पर मानता नहीं है, तो क्या उपाय करते हैं? उसकी शादी कर दिया। शादी कर देने पर वह स्त्री के वश में आ गया तो क्या कहते हैं वे मां बाप? लो यह तो अब स्त्री के वश में हो गया। यह तो लौकिक बात कही जा रही है। कोई बड़ा स्वच्छन्द आचरण करने वाला पुरूष राज्य सरकार की अधीनता में आ जाय तो लोग कहते ना कि अब तो आ गया चक्कर में, वश में, पड़ गया। तो ये तो सब एक लौकिक वशंगतता हैं, मगर इन योगियों ने घर छोड़ा, समागम छोड़ा, संग से हटे, किसी के वश में न आ पाये, उन्हें न घर बाँध सका था, न स्त्री पुत्रादिक बाँध सके, ऐसे स्वतंत्र हो गए, पर लो अब वे जंगल में भी पहुंचे तो उन्हें घर के लोग या कोई इष्टजन देखने गए, सो क्या देखते है कि लो, ये ध्यान और अध्ययन के वश में तो आ गए। इस भक्ति भरे कथन की एक भक्ति भरी निगाह से भी सुनो।

योगियों का आवश्यक विकास- वस्तुगत दृष्टि से तो योगीजन जैसा कि उन्होंने समझ रखा है वे इस ध्यान और अध्ययन के शुभ और नय के विकल्पों में भी रहना नहीं चाहते। वे तो परमविश्राम चाहते हैं। भले ही ध्यान और अध्ययन साधुवों का कर्तव्य है, पर यह तो साधन है, साध्य नहीं। उसका

उपयोग कर रहे हैं, पर वे इसमें भी अपनी उस विशुद्ध दशा को पाने की रूचि रख रहे हैं। ध्यान से वे पाते क्या हैं? किसलिए वे ध्यान करते हैं? ध्यान का प्रयोजन है- अपने स्ववश होना। यही उनका आवश्यक काम है। आवश्यक के माने जरूरी नहीं है। यह अर्थ तो लोगों ने बना रखा है। अवश पुरूष के द्वारा किये जाने वाले कार्य का नाम आवश्यक है। शब्दों में अर्थ भरा है। जो इन्द्रिय, विषय कषायादिक के वश नहीं हैं उनको कहते हैं अवश और अवश के द्वारा किये जाने वाले जो कार्य है उनका नाम है आवश्यक। ये दुनिया के लोग उसका बड़ा झूठा अर्थ लगाते हैं- खाना आवश्यक, सोना आवश्यक आदि, पर ये आवश्यक कार्य नहीं है। आवश्यक तो मोक्षमार्ग के कार्य कहलाते हैं। क्योंकि वे सब काम अवश पुरूषों के द्वारा किये जाते हैं, तो ये ध्यान और अध्ययन आदि कार्य है आवश्यक और दुनिया के ये सारे काम जो हैं वे आवश्यक नहीं कहलाते। जैसे लोग कहते हैं कि भाई धन कमाना आवश्यक है तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि आवश्यक कार्य तो वे ही कहलाते हैं जो अवश पुरूषों द्वारा किये जाते हैं। खूब समागम जोड़ना, खूब मोह करना, इनको भी दुनिया के लोग आवश्यक काम बताते हैं, पर ये आवश्यक काम नहीं हैं, आवश्यक काम तो योगीजन किया करते हैं।

ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व के अनुभव में सर्वसमृद्धि लाभ- वे योगीजन ऐसा चिन्तन करते हैं कि मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं। अन्य बातें जो आत्मा में कही जाती हैं दर्शन, चारित्र, सुख शान्ति आदिक वे सब बातें इस ज्ञानमात्र के अनुभव पर, इस ज्ञानमात्र के अस्तित्व पर निर्भर हैं। अन्यथा मान डालो बहुत से गुण आत्मा में हैं- आनन्द है, चारित्र है, श्रद्धान है, और जो चाहे कहते जाइये और उसमें से एक ज्ञान को खींच लीजिए, ज्ञान को न कहिये, ज्ञान को न मानिये तो वे सब ज्ञानमात्र आत्मा इतना कहने पर आ जाते हैं। अनुभव में ''ज्ञानमात्र मैं हूं'' इस प्रकार की वृत्ति बने तो स्वानुभूति हो जाती है और और रूप से विचार करने पर स्वानुभूति नहीं हो पाती, पर ज्ञानमात्र हूं मैं- इस तरह का चिन्तन करने पर ज्ञानानुभूति होती है। मैं चारित्रमय हूं, लो, चारित्र को चारों तरफ से ढूँढ़ लीजिये। और कहते जाइये मैं चारित्रस्वरूप हूं। पर मिला क्या इसे? इस ज्ञान को मिला क्या और जब यह ज्ञान अपने को इस तरह से तके कि मैं ज्ञानमात्र हूं, जाननमात्र हूं तो जानन का तो कुछ स्वरूप आया ज्ञान में। केवल प्रतिभास जानन और भी अपने आपका निर्णय बना लें, सामान्य बना लें और भी ज्यादा इस पर समझ में आयेगा। मैं प्रतिभासमात्र हूं, लो ऐसा सोचते-सोचते चारित्र भी आ धमका। उसमें जो स्थिरता हुई ज्ञान की अनुभूति की, उससे चारित्र भी बन गया। मैं ज्ञानमात्र हूं, इस प्रकार का बार बार अनुभव चलाया। उस ज्ञान की धारा के बीच जहां स्वरूप स्पर्श हुआ, ज्ञानानुभूति जगी, लो उसके साथ ही सम्यक्त्व का अभ्युदय हो गया। ये सबके सब गुण, शान्ति और आनन्द भी ये सभी एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व के अनुभव करने पर प्रकट होते हैं, अन्यथा सोचते

जावो, मैं आनन्दमय हूं, आनन्दरूप हूं, अब आनन्द देखो कहाँ धरा है? और वह अपने ज्ञान में किस प्रकार आ पाता है?

अद्वैतवादी भी तो ब्रह्म को आनन्दस्वरूप मानते हैं, वह आनन्दमात्र है। ब्रह्म, आत्मा आनन्दमात्र है, इस तरह का निर्णय करने पर आया क्या उपयोग में। और जब अपने आपको ज्ञानमात्र हूं इस प्रकार का अनुभव किया गया, मैं ऐसा जाननमात्र, प्रतिभासमात्र सामान्य केवल ऐसा जानन उपयोग में आये, मात्र जानन, और कुछ न आये, इष्ट अनिष्ट का विकल्प, किसी परपदार्थ का विकल्प, किसी अन्य का ख्याल, ये सब न आयें, मैं केवल ज्ञानमात्र हूं इस तरह के अनुभव से चलें तो ऐसा अनुभव होने पर लो आनन्द भी यहाँ आ धमका, आनन्दमय भी अपने आपका अनुभव कर लिया तो ये सबके सब गुण एक ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व के अनुभव पर आते हैं। ध्यान में उनकी मुख्य पद्धति यही रहती है कि वे अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करते हैं।

ज्ञानानुभूति के लाभ के अर्थ ध्यानाध्ययन का प्रयास- लो सारा तो उन्होंने अध्ययन किया- दर्शनशास्त्र, करणानुयोग आदि के बहुत ऊँचे-ऊँचे अध्ययन चले, बड़े विशिष्ट वे विद्वान हुये- ज्योतिष, व्याकरण वैद्यशास्त्र आदि सब प्रकार की विद्यावों में निपुणता पायी। इतनी विशेष विद्यायें प्राप्त कर लेने के बाद अब वे साधुजन यहाँ जंगल में क्या कर रहे हैं? एक ज्ञानमात्र के अनुभव की धुन लगाये हुए हैं। एक तो क्या उन सब विद्यावों का संचय, उतने ज्ञानों का पढ़ना, ये सब उनके व्यर्थ ही गए। अब तो उन सबका भी ख्याल छोड़कर ये केवल ज्ञानमात्र करने में लग गए। इससे अच्छा तो यह था कि वे अपना सब ज्ञान हमको दे देते क्योंकि हम लोग तो वह सब ज्ञान चाहते हैं, और वे साधुजन अपने को कोरा अनुभव करना चाहते हैं। कोरा का अर्थ है केवल। भाई ! उन समस्त विद्यावों का प्रताप है कि जिससे वे अपने को केवल अनुभव करने में समर्थ हो सके। इस जगत का क्या स्वरूप है, इस आत्मा का क्या स्वरूप है, इसके साथ क्या उपाधि लगी है, उन कर्मों की क्या गति है, कैसा बन्ध है? कैसा उदय है, क्या सत्त्व है, क्या विपाक है, क्या क्या पदार्थों का स्वरूप हैं? दर्शनशास्त्र में भी जिस-जिस ढंग से जो वर्णन हैं उनसे भी सब निर्णय किया है, ऐसे बहुमुखी ज्ञान के द्वारा निर्णय करने वाले योगीजनों को अपने आपको ज्ञानमात्र चिन्तन करने में बड़ी सफलता मिलती है। वे योगीजन अब किसी के चक्कर में नहीं पड़ते। सबको छोड़ छाड़कर जंगल आ गए। अब वे ध्यान और अध्ययन के वश हैं।

परम करूणामूर्ति योगियों द्वारा कर्मों का विशुद्धीकरण- ज्ञानसम्पादन शास्त्रअध्ययन, निजतत्त्व का अध्ययन- बस ये दो ही उनके खास काम हैं ध्यान और अध्ययन। इनके वश हुये ये योगीश्वर वन में कर क्या रहे हैं? कर्मों की विशुद्धि के लिए तपश्चरण करते हैं? कर्मों की विशुद्धि का अर्थ कर्मों को

दूर करना। उन कार्माणवर्गणाओं को शुद्ध करने के लिये तपश्चरण कर रहे हैं- ऐसा कहो तो भी युक्त है। क्योंकि खुद विकारी हुये और ये कर्म भी बिगड़ गए थे। ये कार्माणवर्गणायें अपनी अकर्मत्व जैसी शुद्ध स्थिति से चिगकर कर्मरूप हो गयी थीं। कैसे उपास्य हैं ये योगी। अपना बिगाड़ भी दूर कर रहे हैं और कर्मों का बिगाड़ भी दूर कर रहे हैं। कोई लोग कहते हैं कि ये योगीजन निर्दय हैं, ये कर्मों को जला डालते हैं, कर्मों का नाश कर डालते हैं। लो यहां तो बड़ी करूणा समझी जा रही है कि अपने स्वरूप के बिगाड़ को भी दूर कर रहे हैं और कर्मों के स्वरूप के बिगाड़ को भी दूर कर रहे हैं। वे कर्मरूपी वर्गणायें अकर्मरूप हो रही हैं ना। यों कर्मों की विशुद्धि के लिए वे परमार्थ तपश्चरण किया करते हैं।

श्लोक 3

दिनकरकिरणनिकरसंतप्तशिलानिचयेषु नि:स्पृहा:,
मलपटलावलिप्तूतनव: शिथिलीकृतकर्मबन्धना:।
व्यपगतमदनदर्परतिदोष कषायविरक्तमत्सरा:,
गिरिशिखरेषु चंडकिरणाभिमुखस्थितयो दिगम्बरा:।।3।।

योगियों के ग्रैष्मपरीषहसहन का कथन- केवल अपने आत्मस्वरूप की साधना की ही जिनको धुन बन गयी है ऐसे पुरूष निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर नाना शारीरिक क्लेश सहकर भी अपने आत्मरस के अनुभव में तृप्त रहा करते हैं। उन रोगियों के ग्रीष्मपरीषह का इस छन्द में वर्णन है। वे योगी विराजे हैं किसी प्रासुक एकान्त पर्वत के स्थान पर, किसी शिला पर विराजे हैं, जो शिला सूर्य की किरणों के समूह से संतप्त हो गयी है। बैठे हैं योगी निस्पृह होकर, कहीं कुछ चाह नहीं है जिनके, अपने आपमें विश्राम पाने के लिए विराजे हैं। घर छोड़कर बाहर रहने में तो गृहस्थ भी कहते हैं कि सफर तो सफर ही है, उसमें आराम कहां रक्खा है और जिन्होंने अपने जीवनभर के लिए घर छोड़ दिया है, वे जंगलों, पर्वतों में सफर किया करते हैं तो उनकी बात तो विचारे कौन? लोग तो अपनी दृष्टि से नाप करके देखेंगे तो यह कहेंगे कि हम तो दो चार दिन को घर छोड़कर जाते हैं तो तकलीफ में पड़ जाते हैं। ये योगी संन्यासी साधु तो सब कुछ छोड़कर वन में रहते हैं तो इनको तो क्लेश बहुत हैं। हां देखो ना, घर नहीं वृक्ष की छाया से भी जिन्हें प्रेम नहीं, ऐसे योगी बैठे हैं कहीं जंगल में, पहाड़ पर किसी शिला के ऊपर और ग्रीष्मकाल की बड़ी प्रचंड किरणे उस शिला को संतप्त कर रही हैं, जैसे बैसाख जेठ की गर्मी का अंदाज बना लीजिए, जैसे घर के लोग झोंपड़ी में रहकर भी

प्राण गँवा देते हैं ऐसी तीव्र गर्मी में शिला के ऊपर बैठे हुए ये साधु निस्पृह आत्मानुभव के रस से तृप्त हो रहे हैं, यह है योगियों की योगसाधना। कहीं ऐसा नहीं है कि बहुत तेज गर्मी में तेज गर्म शिला पर बैठकर ध्यान करें तो योगसाधना बनेगी। हां, थोड़ा सहायक यह भी है और वह इतना तक सहायक है कि मौज के वातावरण में ध्यान की विशुद्धि नहीं बना करती है, जहां निष्पृहता का प्रयोग हो रहा हो वहां ध्यान में उत्साह जगता है।

परीषहसहन में योगियों की नि:स्पृहता का बल- योगियों के परीषहन की बात यह है कि जिन्होंने झौंपड़ी का, मकान महल का त्याग कर दिया है तो उनको तो ऐसे ही साधन मिलेंगे? वे अब कहां जायें? घर से तो मोह ही नहीं रहा, रुचि ही नहीं रही। वे ऐसे पर्वतों पर शिला पर विराजमान् है। पर हैं निस्पृह। कुछ चाह नहीं और भी स्थितियां विचार लो। 10-15 दिन का उपवास किए हुए हैं और फिर 2-4 दिन चर्या को भी गए हों फिर भी अन्तराय आ जाते हों, ऐसी कठिनाई के समय में भी वे योगी पर्वतों में जंगलों में प्रसन्न रहा करते हैं। उनकी जो पुरूष भक्ति करते हैं वे भक्त पुरूष भी संसार से तिर जाते हैं। धन्य है उनका योगानुराग। कैसा अध्यात्मयोग उनके बन रहा है कि वे उस स्थिति में भी अप्रसन्न नहीं हैं, किन्तु आत्मा सदा उनके निकट है। इस निज आत्मतत्त्व की प्रीति से, अनुभूति से इस ही में रमण से वे उस स्थिति में भी आनन्द पा रहे हैं। यह तो है एक बाह्य क्षेत्र का वर्णन और उनका शरीर किस तरह का है, जो मल के पटलों से अवलिप्त है, ऐसा उनका शरीर बन रहा है। ऐसा मलपटल लगा है जिनके शरीर में कि पीठ पर जरा सा हाथ फेर देने से बाती की बाती मल छूटने लगता है और ऐसे मललिप्त शरीर वाले, फिर ग्रीष्मकाल में कई दिनों के उपवास से और कई दिनों का जिनके अन्तराय पड़ा वे ग्रीष्मकाल में शिला पर विराजे हों तो उनके परिषहों का क्या ठिकाना? किन्तु वे समताभाव से ऐसे विकट परिषहों को भी जीतकर निस्पृह रहकर आत्मसाधना में लगे हैं।

योगियों का स्वरूपदर्शन की कला का बल- बात तो यथार्थ यह है कि जब तक इस ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व में तीव्र रुचि नहीं जगती है तब तक ये कलायें नहीं प्राप्त हो सकतीं। जिन कलावों को साधुजन उपयोग में लेकर प्रसन्न रहा करते हैं वे कलायें ज्ञानी को कहां से प्राप्त होंगी, कौनसा बल उनको मिला है? शरीर से निर्बल होकर भी, क्षुधा तृषा से युक्त होकर भी शरीर पर कितना ही मल चिपटा है क्योंकि जीवहिंसा के भय से और शरीरराग के दोष से स्नान का परित्याग कर दिया है, तिस पर भी ऐसे योगी किस बूते पर जंगल में प्रसन्न रहते हैं, और बुद्धि को स्वस्थ रखते हैं? बडे-बडे राजा महाराजा लोग जब कभी उस जंगल में आ निकलते हैं और ऐसे साधुसन्त संन्यासी मुनिराज दृष्टि में आते हैं तो वे चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं, जिनके चरणों में बडे-बडे

बुद्धिमान् लोग भी नतमस्तक हो जायें, तो उनमें है तो कोई कला ऐसी, जिसके कारण वे पूज्य हैं। वह कला उन्होंने स्वरूपदर्शन की प्राप्त की है। यह स्वरूपदर्शन की कला जिनको प्राप्त हो जाती है, लोग तो प्रशंसा करते हैं यों कि उनके चरणों में बडे-बडे राजा लोग नतमस्तक हो जाते हैं, पर वस्तुत: प्रशंसा है इस बात की कि वे सारे विकल्पों को दूर करके आत्मीय विशुद्ध आनन्द का अनुभवन कर रहे हैं। खुद की महिमा खुद के बड़प्पन से है, खुद के स्वरूपस्मरण से है। खुद शान्ति और ज्ञान से परिपूर्ण हो जायें, इससे खुद का महत्त्व है। ये योगीश्वर अपने ज्ञानभाव के द्वारा अपने ही ज्ञानभाव का अनुभव करते हुए परम तृप्त रहते हैं। कैसा उनका मन वश है, कैसी उनकी परिणतिवश है। अपने ही ज्ञानपरिणमन से अपने ही ज्ञानस्वरूप की ओर लाने में कितने कुशल हैं? जैसे कोई बाहरी कुशल पुरूष बाहरी साधनों को जोड़जाड़कर कोई चीज बना दे, वैज्ञानिक लोग अनुकूल प्रतिकूल चीजों का मेलजोल करके कोई रसायन तैयार कर दे, कोई आविष्कार बना दे अथवा लौकिक साधनों से किसी भी कार्य को तुरन्त तैयार कर दे, इससे भी अधिक कुशलता इन योगी साधुवों में है कि जब चाहे और निरन्तर यथाशीघ्र अपने ही उपयोग से अपने ही ज्ञानस्वरूप को दृष्टि में लेकर स्वाधीन करके, नियंत्रित करके उनके सब कुछ सामने पड़ा हुआ है, हस्तगत है। जैसे हाथ में आयी हुई चीज का संग्रह विग्रह करके उसमें कोई बात बनाता है इसी तरह उपयोग में आये हुए इस स्वरूप में रमण करके, प्रवेश करके, उन गुणों का अनुभवन करके एक परम सन्तोष, परम आनन्द प्राप्त करते हैं। यह है योगियों की एक प्रशंसनीय और पूज्य कला।

योगियों का सहजज्ञान और वैराग्य की कला का बल- ये योगीश्वर सहज ज्ञान की कला से परम रमणीय हैं। इसके अतिरिक्त और योगियों में बात ही क्या है कि जिससे वे सबके पूज्य बने और उनकी ओर बडे-बडे बुद्धिमानों का भी आकर्षण हो? एक इस सहज बोध की कला का परित्याग कर दें, फिर योगियों के पास रहा क्या? वे तो फिर शहर के अथवा ग्राम के रहने वाले गरीब लोगों से भी गए बीते हो गये। और फिर वे योगीश्वर अपनी उस सहज कला का परित्याग कर दें और विकल्पजालों में ही अपनी उधेड़पन बना लें तो फिर उनमें गुरुता ही क्या रही? योगी पुरूषों में यही तो पूज्यता की एकमात्र बात है, कि जब चाहे झट निर्विकल्प होकर सबका उपयोग तोड़कर अपने आपके स्व में अपने आपके उपयोग को एकरस बना देते हैं, जहाँ फिर किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं ठहरता। ज्ञानज्योति में अपनी ही बर्तती हुई ज्ञानधारा को मिला देते हैं और इस प्रकार अनुभवन करते हैं कि उनके उपयोग में उनका भिन्न स्वरूप रहा और न कुछ धर्मपालन के लिए श्रम रहा। परमविश्राम की अवस्था इन योगी पुरूषों के हुआ करती हैं। तो वे किसी शिला पर विराजे हैं। बड़ी तेज गर्मी से जो संतप्त है ऐसी शिला पर स्थिर आसन से विराजे हुए योगीश्वर अपने आपमें विशुद्ध ज्ञानसुधारस का पान कर रहे हैं, तृप्त हो रहे हैं। ऐसे योगीश्वर कठिन परीषहों

को सहन करके भी अन्तरंग में शुद्ध आनन्द से प्रमुदित रहा करते हैं। उन योगीश्वरों को हम भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं।

शान्ति का उपाय राग का अभाव- जगत के सभी जीव शान्ति चाहते हैं। मनुष्य हों, पशु हों, देव हों, स्त्री हों, सबकी केवल एक ही चाह है- शान्ति मिले, अशान्ति दूर हो। और जितने प्रयत्न करते हैं वे सब इसीलिए करते हैं कि दु:ख दूर हो। लेकिन उल्टा कोई प्रयत्न करे और शान्ति चाहे तो यह कैसे हो सकता है? पहिले तो यह जानो कि शान्ति कहते किसे हैं? शान्ति नाम है निराकुलता का। अब निराकुलता होती कैसे है? इसका उपाय जैनशासन ने यह बताया है कि आत्मा का स्वरूप सहज स्वयं आनन्दमय है। इस आत्मा का अपने आपसे ही सारा सम्बन्ध है, इसका किसी दूसरे जीव के साथ या वैभव के साथ रंच सम्बन्ध नहीं है तभी तो देखिये कि यह जीव एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है और यों शरीर छोड़-छोड़ कर अगले शरीर में जाता है, इसका उस भव में जो कुछ समागम था वह कुछ साथ आया है क्या इस भव में व इस भव का भी कोई समागम साथ में जायेगा क्या? कुछ भी नहीं आता जाता। तो यह कितने दिनों का ठाठ है, जरा विचार तो करो। इस भव को छोड़ अगले भव में जाना होगा तो यहाँ का कुछ भी तो साथ न जायेगा। यहां के ये समागम कुछ भी काम न देंगे। ये तो भव-भव में कर्मानुसार मिलते हैं और छूटते जाते हैं। इनके संग्रह-विग्रह में पड़कर कुछ भी सिद्धि न होगी। हमें ऐसा कोई उपाय करना है जिससे कि इस संसार के आवागमन का संकट ही सदा के लिए छूट जाय। समस्त संकटों की जड यह जन्म मरण है, इससे मुक्त होने में ही शान्ति है।

समागमों की अलाभकारिता के निर्णय की प्रथम आवश्यकता- पहिले यह बताओ कि इस धन वैभव के समागम से आत्मा को लाभ क्या है? भले ही इस मायामयी दुनिया में मोह बनाकर कुछ भी कल्पनाओं से मौज मानें, लेकिन ये समागम वस्तुत: अशान्ति के ही कारण हैं। इससे यह निर्णय तो रखना ही जरूरी है कि इन समागमों से मेरा बड़प्पन क्या है? इतनी बात यदि चित्त में न हो तो वह धर्म पालन नहीं कर सकता। जो भी जीव यहां आया है नियम से शरीर छोड़कर यहां से कूँच कर जायेगा, तो जब यहां से अगले भव में जायेगा तो यहां के समागम का फिर क्या उठता है आगे? रंचमात्र भी चीज यहां से यह जीव अगले भव में नहीं ले जा पाता, सब कुछ यही का यही रह जाता है। इस जीव का यहाँ कुछ है ही नहीं तो साथ ले क्या जायेगा? तो उस आत्मा की खबर लें जो आत्मा अनादि से अनन्त काल तक अकेला रहने वाला है और इन समागमों के प्रति ऐसी भावना रखें कि इनसे मेरे आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं है। इन मायामयी, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि लोगों ने अगर कुछ भला कह दिया तो इस मुझ आत्मा का क्या सुधार हो गया? उससे कुछ भी

लाभ न मिलेगा। तो अपना सारा उत्तरदायित्व अपने आप पर है। इस कारण एक यही निर्णय रखें के ये स्त्री पुत्रादिक परिजनों के जो भी समागम हमें प्राप्त हुए हैं उनसे मेरे आत्मा को लाभ कुछ नहीं है। एक यह निर्णय तो जरूर रखना होगा अन्यथा आत्मा को शान्ति का मार्ग न मिल सकेगा।

आत्मस्वरूप के यथार्थ चिन्तन की परम आवश्यकता- अब अपने आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करने लगें कि मैं हूं क्या? मैं सबसे निराला एक ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं। यह मैं हूं इस कारण से सदा कुछ न कुछ बना रहता हूं। सो संसारी बनने में तो शान्ति है नहीं, मुक्ति पाने का प्रोग्राम रचना चाहिये। भले ही अच्छा ऊँचा प्रोग्राम न बन सके जैसे सर्व कुछ त्यागकर निर्गन्थ दिगम्बर हो जाना, वन उपवन आदि एकान्तस्थानों में निवास करना आदि, तो सच्ची बात का श्रद्धान हो जाय इतनी बात तो बना लेना चाहिये। मैं आत्मा सबसे निराला ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, मेरा भविष्य सब कुछ मेरे ही आधार पर है, ऐसा जानकर अज्ञान दूर करना, मोह दूर करना, और जहां ऐसे आत्मा की चर्चा मिले, आत्मा की भक्ति मिले, आत्मा का ध्यान जगे उन उपायों में रुचि रखना, ये तो किए जा सकते हैं।

ज्ञानवत्सल योगियों की सहज तृप्ति- जिन ज्ञानी पुरूषों ने यह सम्यक्त्व पाया और वैराग्य जगा वे समस्त परिग्रह त्यागकर निर्गन्थ दिगम्बर होकर वनान्त में तपश्चरण करते हैं। वे वन में क्या करते हैं? अपने आत्मा से बात किया करते हैं। कुछ लोग यह सोचते होंगे के बात किये बिना तो रहा ही नहीं जाता। जब वहां वन में दूसरा कोई बात करने को भी नहीं है तो ये योगी कैसे दिन काटते होंगे? अरे उनका आत्मा उनका प्रभु उनकी दृष्टि में है। तो उस भगवान आत्मा से ही बातें करते रहने में उनका समय गुजर जाता है और उस ज्ञानमय आत्मस्वरूप की उपासना से उनके कर्मबन्धन दूर होते हैं, शिथिल होते हैं, अब उन योगीश्वरों में न तो काम, क्रोध, मान, माया, लोभादि रहे, न उनमें मात्सर्यभाव रहा। वे तो एक भगवान आत्मा की उपासना में ही रत रहा करते हैं। कैसी ही गर्मी पड़ रही हो, कई दिन के उपवासे भी हों, कुछ दिन अन्तराय भी हो गया हो तो भी वे धीर वीर मुनि पर्वतों में, जंगलों में वे योगीश्वर आत्मध्यान किया करते हैं। इतना विशिष्ट तपश्चरण करके भी वे अन्तरंग में आनन्दरस लूटते हैं, रंच मात्र भी कष्ट नहीं मानते हैं।

अनुरज्यता का निर्णय- अब यहां यह समझना है कि हमें अपने दिल में क्या चीज बसानी है जिससे हम संसार से पार हो जायेंगे? लोग तो मन में कहेंगे कि हमारे दिल में स्त्री बसी है, हमारे दिल में पुत्र बसे हैं, हमारे दिल में घर बसा है, हमारे दिल में कीर्ति बसी है आदि, ऐसा यद्यपि कोई सभा के बीच में बोल न सकेगा, ऐसा बोलने में बड़ी शरम करेगा। तो जिस बात में बोलने में शरम बसी हो वह बात करने लायक कैसे हो सकती है? अर्थात् परपदार्थ दिल में बस रहे हैं, ऐसी बात को

कह नहीं सकते हम आप, तो दिल में बसाना योग्य नहीं है, यही तो उसका अर्थ निकला। कोई भरी सभा में खड़ा होकर व्याख्यान में ऐसा नहीं बोलता कि हमारे दिल में तो यह धन वैभव बसा है, उसके कमाने की ही मेरी धुनि बनी हुई है आदि। तो वस्तुत: ऐसा समझिये कि इस धन वैभव आदिक परपदार्थों को दिल में बसाने से अनर्थ ही है, जीव को लाभ नहीं है।

सद्‌गृहस्थजीवन के दो मौलिक विश्वास- कुछ लोग यह कहेंगे कि गृहस्थ का जीवन ही ऐसा है, वहां धन बहुत कमाना ही चाहिये तब यहां का इज्जत बढ़ सकती है नहीं तो पोजीशन बहुत बढ़िया नहीं हो सकती। तो इस सम्बन्ध में दो बातों पर ध्यान रखें। एक तो यह कि जब पुण्य का उदय होता है तो लक्ष्मी बिना चाहे भी आगे बरसती है। चक्रवर्ती को कौनसा परिश्रम करना पड़ा जो कि 6 खण्ड की विभूति प्राप्त हो गयी, 32 हजार राजा उनके अधीन हो गए, सब वैभव उस क्षेत्र का चक्री का हो जाता। तो पुण्य के उदय से थोडे से श्रम से ही बहुत बड़ा लाभ प्राप्त हो जाता है और कोई पुरुष बहुत श्रम करके भी उसका लाभ नहीं ले सकते। तो ये सब धन वैभव पुण्यानुसार आते हैं, पहिली बात तो यह है। दूसरी बात यह है कि आप अपना ऐसा दिल बनावें कि जीवन तो सबका गुजर ही रहा है, सबका गुजारा चलता है। थोड़ासा धन हो तो भी गुजारा चलता है और अधिक धन हो तो भी गुजारा चलता है, लेकिन इस तरह से जीवन व्यतीत करने से कुछ लाभ न होगा। मनुष्यजीवन पाकर अपने आत्मा के स्वरूप को पहिचानें, अपने में अपने को रमायें, धर्मपालन करें, रत्नत्रय की साधना करें तो इसमें लाभ है। इस कारण हम ऐसा साहस बनायें और निर्णय करें कि वैभव, सम्पदा, लक्ष्मी इसकी अटकी हो तो आये, न अटकी हो तो न आये। उस धन के कम होने से कहीं मेरा जीवन बेकार नहीं होता, किन्तु अपने स्वरूप का लाभ न लेने से, धर्मपालन न करने से जीवन बेकार हुआ करता है। इससे जो भी स्थिति मिली हो उसमें ही संतुष्ट रहकर एक धर्मपालन के लिए, ज्ञानार्जन के लिए अपना ठोस कदम बढ़ाना चाहिये। ये योगीश्वर ऐसा ज्ञानप्रकाश पाये हुए हैं कि ये हर स्थितियों में प्रसन्न रहते हैं। इन्हें दिगम्बर कहते हैं। दिग कहते हैं दिशा को और अम्बर कहते हैं वस्त्र को, अर्थात् जिनकी दिशायें ही वस्त्र हैं अर्थात् जिनके वस्त्र नहीं हैं, ऐसे परम निस्पृह योगीश्वर उस उस आत्मध्यान में इतना रत रहते हैं कि गर्मी के विकट परीषह भी आ रहे हों मगर उनको दूर करने का कुछ यत्न नहीं करते। वे तो अपने आत्मीय आनन्दरस का पान करके तृप्त रहा करते हैं।

श्लोक 4

सज्ज्ञानामृतपायिभि: क्षान्तिपय:सिच्यमानपुण्यकायै:।

धृतिसंतोषच्छत्रकैस्तापस्तीव्रोऽपि सह्यते मुनीन्द्रैः।।4।।

सज्ज्ञानामृतपायी मुनीन्द्रों का समता से तीव्रतापसहन- जब बहुत तेज गर्मी पड़ती है तो लोग उस गर्मी की वेदना को शान्त करने के लिए ये तीन बातें किया करते हैं ना? एक तो बहुत ठंडा जल पीना जिससे कि अमृत सा अनुभव करें, दूसरे- ठंडे पानी से नहाना या अपने शरीर को सींचना जैसे कि बहुत से लोग गर्मी के दिनों में अपने घरों में ठंडे पंखे लगा देते हैं। तो वहाँ क्या है? वे जलबिन्दुकण ही तो सूक्ष्मरूप लेकर हवा से आते हैं और शरीर का स्पर्श करते हैं। तीसरे- सिर के ऊपर कोई अच्छी छाया रहना। चल रहे हों तो छाता छाया करना, घर में विराजे हों तो घरों की छत की छाया रहना- ये दो तीन उपाय लोग गर्मी की वेदना शान्त करने के लिए किया करते हैं। तो ये मुनीन्द्र भी समस्त परिग्रहों का त्याग करके आत्मसाधना के लिए वन में विराजे हैं। वे मुनीन्द्र भी ऐसे ही कोई अलौकिक विलक्षण तीन काम किया करते हैं। उन्होंने सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत का तो पान किया है। जैसे यहाँ लोग घंटे घंटेभर बाद ठंडा पानी पीते हैं वैसे ही मुनीन्द्र मिनटों बाद सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत पीते हैं।

ज्ञानानुभूति के महत्त्व के परिचय का प्रयोग- अभी आप बाहर के विकल्प छोड़कर अपने भीतर यह ध्यान करें कि मैं तो केवल प्रकाशमात्र हूं। जो ज्ञान है, जो जानना है, यह जो ज्ञानज्योति है, बस यही तो मेरा स्वरूप है, इतना ही तो मैं हूं, जानता हूं, इतना ही तो मैं कुछ करता हूं। जानन के सिवाय और मैं किया क्या करता हूं। हर स्थिति में जहाँ कुछ लड़ रहे हैं वहां भी क्या कर रहे हैं? केवल एक कल्पना कर रहे हैं, ऐसे ही हम हर जगह ज्ञान ही ज्ञान बनाया करते हैं। इस कारण जब मैं परपदार्थों का कुछ करता ही नहीं, केवल विकल्प ही करता हूं, ज्ञान ही ज्ञान किया करता हूं तो बाह्यपदार्थविषयक ज्ञान न करके मैं अपने अन्दर में यह निरखूँ कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप हूं, इससे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है, ऐसा जब आपका ध्यान जाय तो आप स्वयं ऐसा अनुभव करेंगे कि यहां मेरे सारे संकट दूर हो गए। लोग अपने संकटों को दूर करने के लिए बहुत से उपाय रचते हैं, बड़ा खर्च करते हैं, मगर संकटों के दूर करने का आन्तरिक उपाय ही है और वह बड़ा सुगम उपाय है। जिसे गरीब अमीर सभी कर सकते हैं। ज्ञान चाहिए। जहां यह पहिचाना कि मैं तो केवल ज्ञानस्वरूपमात्र हूं, इससे आगे मेरी दुनिया नहीं, मेरा घर नहीं। मैं तो एक इस आत्मा में ही रह रहा हूं। मेरे परिजन से सब आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्ति आदिक गुण है, ये ही मेरे मित्र हैं। यह मैं खुद अच्छे मार्ग से चलूँ तो कल्याण होगा, इसलिए मेरा मैं ही गुरु हूं, और यह मैं स्वरूपतः भगवान हूं। उसको निरखकर ही तो मैं कल्याण करता हूं। तो मेरा देव यह मुझमें ही तो बसा हुआ है। साक्षात् कहीं अरहंत देव भी बैठे हों तो उनका दर्शन किस विधि से

हुआ करता है, सो तो बताओ? अपने आपमें कुछ चिन्तन करें, अथवा अरहंत भगवान के स्वरूप का मनन करें तो इस चिन्तन मनन से खुद अपने आपमें ज्ञानप्रकाश के द्वारा आप अरहंत के दर्शन करते हैं तो वह ज्ञानप्रकाश वही तो अरहंत का रूप है। यह केवल विशुद्ध हो जाय, बस यही अरहंत अवस्था है। तो हम अपने आपमें ही विराजे हुए देव की उपासना करते हैं, और ऐसा जो हम अपने आपको समझाते हैं यही मेरा शास्त्र का उपयोग है। तो मेरे परिजन, मेरा वैभव सब कुछ मेरे अपने आपके आत्मा में है, ऐसा निर्णय तो करें, और किसी भी समय दो चार मिनट ही विकल्प छोड़कर अपने आपमें विश्राम से बैठे तो ऐसा अनुभव जगेगा, ऐसा आनन्द जगेगा कि आपका सारा जीवन सफल होगा।

शान्ति के निर्णय, परिचय और अनुभव के लिये आत्मप्रयोग- भैया ! 50-60-70 वर्ष तो विकल्पों में ही व्यतीत किये, विवाद, तृष्णा, झगड़ा, झंझट, इनमें ही बिताये, और आज उस आत्मा की ओर दृष्टि देकर निर्णय करें तो यह महसूस करेंगे के मेरे आत्मा को उन बाहरी झगड़ा, झंझट से लाभ कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ। सो अब इस शेष रहे जीवन में रोज अगर 5 मिनट के लिए भी इस बात के लिए समय दें कि मैं इस समय समस्त परवस्तुवों को भूलकर, सबका विकल्प छोड़कर सहज विश्राम से बैठूँ तो अपने आप ऐसा दिखेगा कि मेरा भला किसमें है, मेरी दुनिया क्या है, शान्ति कहाँ मिलती है? हम तो अपने आपका अब निर्णय करेंगे, बाहरी बातों को तो बहुत देख लिया। परजीवों से, परिजनों से स्नेह करके, मोह ममत्व करके सब कुछ देख लिया, भोग लिया। आखिर हम रहे रीते के ही रीते, अकेले के ही अकेले। अब तो समस्त पर का विकल्प तोड़कर विश्राम से बैठकर अपने आपमें आ सकने का यत्न करेंगे। मैं क्या हूं, और अपने आप निर्णय करें कि शान्ति मेरी कहां है और कैसे मिलती है? यह काम किया जा सका तो समझिये कि मेरा जीवन सफल है। यही मात्र एक काम न बन सका तो कितना ही कुछ कर डालें, कितने ही कुछ समागम हो जाये, कैसी ही स्थितियाँ हो जायें, जीवन बेकार है। बड़े सुयोग से श्रेष्ठ भव पाया है और जैनशासन का समागम पाया है, इसको हम कितने भाग्य की बात बतायें। जहाँ जैनशासन पाया, जैनगुरूवों की वाणी पायी, जैनग्रन्थों के सुनने का सुयोग पाया इसको कितना भाग्य कहा जाय? अब इसका सदुपयोग करें जिससे आत्मा को सम्यक्त्व प्राप्त हो, जिससे आत्मा में निर्मोहता आये वह उपाय कर लीजियेगा। सार वहीं मिलेगा, समागमों में सार न मिलेगा।

धर्मपालन के लिए जीवन की ढाल- भैया ! आप तो गृहस्थ हैं सो गृहस्थी के कर्तव्य के नाते दो चार छः घंटा धन कमाने का प्रोग्राम करना ही चाहिये सो करें, किन्तु वहां फिर सुयोग से, सहजभाव से जो प्राप्ति हो उसी में अपनी व्यवस्था बना लीजिए। कभी चित्त में यह बात न लायें कि इतना धन

होता तो अच्छा था, इतना धन मिलता तो मेरा गुजारा होता। अरे गुजारे की बात समझना है तो अपने से गरीब लोगों पर निगाह डालकर समझ लीजिये, आखिर उन गरीब लोगों का भी गुजारा चलता है कि नहीं। यदि कोई श्रम के लिए साहस बनाये और अपना जीवन समझे तो वह तो यह निर्णय करेगा कि मुझे तो जो कुछ मिला है वह जरूरत से ज्यादा है, मेरा काम तो इससे भी कम धन होता तो चल जाता। अधिक धन होने की क्या जरूरत? मुझे तो केवल साधारण से गुजारे के लिए थोडे धन की जरूरत थी। जरूरत तो इतनी ही है ना कि धर्मपालन के लिए यह शरीर टिका रहे, मैं खूब धर्मलाभ लूटता रहूं, अपने ब्रह्मप्रकाश में रहकर मैं अपने को आनन्दमय बना लूँ, अपने को कर्मबन्धन से रहित कर लूँ, काम तो इतना ही है ना, और इसके लिए जीवन टिकाये रहना है। जो कुछ भी वैभव सम्पदा मुझे मिली है वह जरूरत से अधिक मिली है यह निर्णय रखना चाहिये और उत्सुकता जगना चाहिये आत्मज्ञान और आत्मधर्मपालन की ओर।

क्षमासलिल से सिच्यमान पुण्यकाय वाले योगीन्द्रों का समता से तीव्रतापसहन- जिन्होंने सम्यक्ज्ञान पाया, वैराग्य पाया, ऐसे लोग अब समस्त परिग्रहों का त्याग कर रहे हैं जंगल में बड़ी तेज ताप हो रही है, गर्मी पड़ रही है मगर वे पहिला काम तो यह कर रहे हैं कि सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत का पान कर रहे है। दूसरा कार्य क्या कर रहे हैं कि क्षमारूपी जल से उनका यह ज्ञानशरीरी आत्मा सींचा जा रहा है, क्षमा से, शान्ति से अपने आत्मा को सींच रहे हैं, फिर वहाँ ताप क्या? तपन तो संसार का है। संसारताप वहां रहता ही नहीं जहां अपने आत्मा को क्षमा आदिक गुणों से सींच लिया जाय, शान्तकर लिया जाय। तो वे मुनीश्वर दूसरा काम यह कर रहे हैं। कहां नहा रहे हैं? क्षमा- आदिक गुणों के जल में नहा रहे हैं, उससे उनका पुण्यकाय सींचा जा रहा है।

धैर्य और संतोष के छत्र की छाया में योगीन्द्रों का समता से तीव्रतापसहन- तीसरा कार्य वे क्या कर रहे हैं- अलौकिक छत्र लग रहा है उनके ऊपर जिससे संसार की गर्मी का ताप शान्त हो रहा है। वह छत्र है धैर्य और सन्तोष का। धैर्य सन्तोष ये दो मनुष्य के बहुत बड़े गुण हैं। धैर्य नहीं है तो मनुष्य की जिन्दगी आकुलतापूर्ण है। इन दो का शरण सबको लेना होगा। धैर्य तो इस बात का करना कि कैसी भी कठिन स्थितियाँ आयें, कठिन विपत्तियां आयें, उन विपत्तियों में भी मेरे आत्मा का बल बना रहे, धैर्य बना रहे, यहां तो कुछ भी विपत्ति नहीं। इससे भी बडे-बडे संकट हुआ करते हैं। ये तो कुछ भी संकट नहीं। धन कम हो गया तो क्या संकट, इष्टवियोग हो गया तो क्या संकट, परिवार का कोई गुजर गया तो क्या संकट, टाँग टूट गयी तो क्या संकट? कुछ से भी कुछ हो जाय, अनुभव कर सकें कि यह तो कुछ भी संकट नहीं है। नरकों में तो बड़े संकट होते हैं। और सबसे बड़ा संकट तो जीव पर अज्ञान का है। चाहे वह कितना ही धनिक हो, राजा महाराजा ही

क्यों न हो, यदि अज्ञान छाया है उस पर, तो वह तो संकट में पड़ा है, निरन्तर आकुलित रहा करता है। यदि धैर्य और सन्तोष उत्पन्न हों तो उनसे इस मनुष्यजीवन में शान्ति प्राप्त होती है। क्या करना बहुत अधिक वैभव का, जितना है वही बहुत है। जीवन चल रहा है और धर्म के लिए दृष्टि बढ़ रही है, ज्ञान में उपयोग चल रहा है, अब क्या परवाह है, ऐसा जिसका सन्तोष है, ऐसा पुरुष ही संसार से पार हो सकता है। तो इन मुनीन्द्रों ने धैर्य और सन्तोष का छत्र अपने ऊपर रखा है इस कारण जिसमें तीव्र भी सन्ताप हो रहे हों ऐसी गर्मी भी आसानी से समता से सह ली जाती है। ऐसे योगियों की भक्ति को संसार से पार होने के लिए अध्यात्मयोग के इच्छुक आन्तरिकभाव से कर रहे हैं।

श्लोक 5

शिखिगलकज्जलालिमलिनैर्विबुधाधिप चापचित्रितै-

र्भीमरवैर्विशिष्टचण्डाशनिशीतलवायुवृष्टिभिः।

गगनतलं विलोक्य जलदैः स्थगितं सहसा तपोधनाः।।

पुनरपि तरूतलोपि विषमासु निशासु विशंकमासते।।5।।

अज्ञान के अंधेरे में अन्दर बाहर सर्वत्र अंधेरा- जिनके हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो गया है उनको बाहर भी प्रकाश है और जो भीतर अज्ञान अंधेरे में रहते हैं उनके बाहर भी अंधेरा है। जैसे अंधेरे में स्पष्ट नहीं दिखता यथार्थ नहीं दिखता, इसी प्रकार अज्ञानी को बाहर में कोई भी चीज सही रूप से नहीं दिखती है। किसी मनुष्य को देखकर परिजन को देखकर यह अज्ञानी मानता है कि यह जीव है और यह है मेरा। देखिये जो दिख रहा है आँखों न तो वह जीव है और न वह मेरा है। दोनों ही बातें गलत हैं। जो दिख रहा है वह तो रूपवान है, जो जो रूपी होते हैं। सो पुद्गल हैं, अजीव हैं। अजीव को कहते हैं कि यह जीव है। कोई मन में यह सोचे कि हम शरीर को ही देखकर तो जीव नहीं कहते। शरीर में जो रहता है जीव, उस पर भी तो निगाह है मेरी। उसको दृष्टि में रखकर कह रहे हैं। अरे कौन अंतस्तत्त्व को दृष्टि में रखकर कहता है कि यह मेरा है? खालिस वह जीव तो ज्ञानघन है, जिसमें ज्ञान-ज्ञान का ही स्वरूप पाया जाता है, ऐसा वह परमात्मतत्त्व सबके अन्दर विराजमान है। पर उस पर न खुद की दृष्टि है, न दूसरों की दृष्टि है। तब जो कुछ समझा वह अन्धेरे का ही तो ख्याल है। तब फिर ज्ञान जब तक नहीं है तब तक उसको सर्वत्र अन्धेरा ही

अन्धेरा है। ऐसे लोग चाहे बड़े मौज के साधनों में रह रहे हों, बड़े महल हैं, बड़े कमरे सजे हुए हैं, उनमें बड़े आराम के साधन हैं, कुर्सियां पलंग आदिक बहुत आराम के साधन हैं लेकिन इन मौजों में रहने का जो भाव है वह तो स्वयं अन्धेरा है।

परव्यसंग में शान्ति का अभाव- परव्यासंगी जीव को शान्ति कहां है? सच्चे ज्ञान में जो शान्ति है, सन्तोष है, धैर्य है वह अन्यत्र मिल नहीं सकता। जीव का यही तो एक कल्याण का उपाय है। खाना, सोना, आराम इनसे क्या गुजारा होता है। आत्मा का इनसे क्या भला होता है? इनसे कुछ निर्णय भी तो नहीं कि जो सुख के साधन आज मिले हुए हैं वे छूटेंगे नहीं आगे भी जायेंगे। अन्यथा निर्णय ही तो है कि ये अवश्य छूटेंगे, साथ नहीं जावेंगे। कुछ बड़े हुए फिर छोटे हो गए। बडे राजा महाराजा हैं, मरकर कीड़ा बन गए तो उस राज वैभव के भोगने से जीव को क्या लाभ हुआ और एक भव के बाद दूसरे भव में ऐसा हल्कापन आ जाता है सो तो कथन है, मगर इस ही भव में भी हल्कापन आ जाता है, अनेक दृष्टान्त हैं। किस पर गर्व हो? अनेक धनिक ऐसी स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं कि वे बड़ा दु:ख का अनुभव करते हैं, अनेक विद्वान ऐसी दु:खमयी स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि इससे तो अच्छा था कि विद्या ही न पढ़ते। तो यह लौकिक ज्ञान, यह लौकिक धन, इससे जीव का गुजारा नहीं चल सकता। सच्चा प्रकाश हो, अपने आत्मा के शुद्ध ज्ञानस्वरूप का परिचय हो तो इसे शान्ति है, कहाँ दु:ख है? सारा दु:ख कल्पनाओं का बनाया है। ये भ्रम की कल्पनायें दूर हो जायें तो हर स्थिति में इसे आनन्द ही आनन्द है।

परमार्थज्ञानी विरक्त संतों को परीषहों के मध्य भी प्रसन्नता- जिन्होंने सम्यग्ज्ञान का प्रकाश पाया और वैराग्य जिनके बढ़ा, वे पुरुष निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर वन में बसते हैं और जब बरसात के दिन आते हैं तो वे मुनीश्वर कहां रहते हैं और क्या करते हैं, इसका वर्णन इस छंद में किया गया है। जब बरसात होती है तो सर्वत्र काली घटा छा जाती है। जैसा मयूर का कंठ होता है, कुछ नीला काला सा रंग रहता है अथवा जैसा रंग काजल का होता है उसकी भांति गहरा काला रंग हो गया अथवा जैसे भंवरा अत्यन्त काले रंग का होता है उसकी तरह वृष्टि का रूप बन गया। इतनी तेज वर्षा हो रही है कि जहां सर्वत्र काला ही काला नजर आता है ऐसी वर्षा के समय ज्ञानस्वरूप की ही धुनि रखने वाले पवित्र पूज्य योगीश्वर कहां हैं? वन में हैं। कहां बैठते हैं? कहाँ खड़े होते हैं? खुले में नहीं, केवल एक वृक्ष का आधार है उनका। वृक्ष के नीचे बरसात में खड़े होने से आराम तो नहीं मिलता बल्कि कभी-कभी खुले स्थान से भी अधिक कष्ट पेड़ के नीचे मिलता है। खुले स्थान में जो बरसात की बूँदें पड़ती हैं वे पतली धार में पड़ती है पर वृक्षों के नीचे तो जो बूँदें गिरती हैं वे बडी़-बडी़ बूँदे होती हैं। बरसात का पानी इकट्ठा होकर बडी़-बडी़ बूँदों के रूप में नीचे गिरता है। तो

यद्यपि वृक्ष के नीचे खुले स्थान की अपेक्षा कष्ट अधिक सम्भव है पर वृक्ष के पत्तों पर पड़ने से वह जल निःसंदेह प्रासुक हो जाता है इस कारण ये योगीश्वर बरसात में वृक्ष के नीचे खड़े रहते हैं। ऐसी कठिन वृष्टि हो रही है कि जहां इन्द्र धनुष के चित्रण मेघों में हो गए हैं। जब तेज वर्षा हो जाती है उसके बाद सूर्य की ऊपर से जो आभा पड़ती है उससे इन्द्रधनुष जैसा रंग और आकार बन जाता है। तो बरसात के दिनों में इन्द्रधनुष से मेघ चित्रित हो गए हैं। जहां बहुत तेज गड़गड़ाहट की आवाज आ रही है, ऐसी बूँदों की वर्षा हो रही है मोटी धारा से की जैसे मानों प्रचंड शस्त्रघात हो रहा है। ऐसी वृष्टियों से जब गगन तल को देख लेते हैं वे तपोधन योगीश्वर महाराज, तो फिर वे वृक्षों के नीचे ही भयंकर रात्रि में नि:शंक खड़े रहते हैं।

परीषहों में भी प्रसन्नता प्रदान करने वाली निधि- यहां यह बात जानना है कि उन योगीश्वरों ने अपने आपके आत्मा में कौनसी चीज पाई है कि वे ऐसे वन में, दु:खों की ऐसी स्थितियों में वे राजी रहते हैं, प्रसन्न रहते हैं। वह निधि है आत्मा के शुद्ध स्वच्छ ज्ञान का दर्शन, अपने परमात्म-

प्रभु का मिलन। जैसे संसार में आसक्त पुरुष जिस किसी से भी राग करले तो उसके लिए बड़े-बड़े संकट उठा लेते है, बड़े सिनेमा थियेटर तो इसी आधार पर बने हुए हैं। उनमें प्राय: यही दिखाया जाता है कि देखो अमुक पुरुष चाहे उसका नाम मजनू है या फरियाद है उसको दिखाते हैं कि वह इस प्रकार स्नेह में आ गया और जंगलों में, गलियों में, हाट बाजारों में पागल सा बना हुआ भ्रमण करता है और उस ही की धुन रमाये रहता है, बड़े कठिन कष्ट सह डालता है। तो जब यहां भी देखा जाता कि असार चीजों के स्नेह में भी पुरुष बड़े कठिन कष्ट सह लेते हैं फिर तो जिन योगीश्वरों ने सारभूत तत्त्व के दर्शन पाये हैं, उस प्रभुता से मिलाप किया है, उसका तीव्र विशुद्ध अनुराग जगा है तो उसकी प्रीति में उस भगवत् स्वरूप की उपासना की धुन में बरसात गर्मी जैसे परीषह सह लें तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। एक धुन की विशेषता है। हम आप ऐसे योगीश्वरों को परमेष्ठी मानकर प्रतिदिन पूजा भक्ति करते हैं। रोज देव शास्त्र, गुरु की पूजा करते हैं। वे गुरु हैं कौन? ये ही योगी तो जिन योगियों की हम अर्चना करते हैं उन योगियों ने क्या काम किया जिससे वे पूज्य पवित्र बने? उस काम पर हम दृष्टि न दें और उस काम को हम उत्तम न मानें- उत्तम मानने का चिन्ह यह है कि वैसा बनने की हमारी उत्सुकता बने। यदि हम गुरु के स्वरूप को आदर्श न मान सकें, उपादेय न मान सकें तो हमने पूजा ही क्या की। पूजा तो करें वीतराग निर्ग्रन्थ गुरूवों की और चित्त में बसाये रहें राग भाव, स्त्री, पुत्र, धन वैभव, इज्जत, पोजीशन आदिक को, तो भला बतलावो वह वीतराग योगियों की पूजा हुई क्या?

योगियों का शान्तिप्रद स्वाधीन आधार- भैया ! हमें कुछ सोचना चाहिये अपने बारे में। सांसारिक मौजों मेंतो गुजारा न चलेगा। इन मौजों के बीच भी यदि सम्यग्ज्ञान का प्रकाश है। हम अपने आपको सर्व परतत्त्वों से, परपदार्थों से निराला केवल ज्ञानज्योतिमात्र अनुभवते हैं तो गृहस्थी में रहकर भी हम शान्ति का मार्ग पा सकते हैं। और यह ज्ञानप्रकाश न मिला तो बड़े अंधेरे में जीवन समझिये। ये योगी पुरुष ऐसी विषम रात्रि में भी नि:शंक होकर वन में बने रहते हैं। तो उनको कोई उत्तम आधार ही तो मिला है। यहां तो तेज वर्षा में कमरे से बाहर जो एक खुला हुआ दालान है वहां भी खड़े होने की हिम्मत नहीं करते। यदि बिजली तड़क रही हो, मेघ गरज रहे हों तो बाहर से झट भीतर आकर किवाड़ बन्द करके उस कमरे के अन्दर ठहरते हैं। भला वे योगीश्वर जंगलों में रह रहे हैं, वृक्ष तले निवास कर रहे हैं, यदि वे दु:ख मानें तो वन छोड़कर गांवों में बस जाते, मंदिर में बस जाते। उन्हें कौन रोकता? भक्तजन तो उनका आदर ही करते, किन्तु उनको जिस बात की धुन लगी है उसमें वे बाधा समझते हैं जनसमागम में रहने पर और समागम अधिक होने पर, अत: वे वन में ही प्रसन्न रहा करते हैं, जब उन्हें कोई पवित्र निधि मिली है तब ना

श्लोक 6

जलधाराशरताढिता न चलन्ति चरित्रत: नृसिंहा:।

संसारदु:खभीरव: परीषहारातिघातिन: प्रवीरा:।।6।।

वाणवत् जलधारा से ताड़ित होकर भी योगियों की चारित्र से अविचलिता- ये योगीश्वर जलधारा की वाणवत् वर्षा से ताड़ित होकर भी चारित्र से रंचमात्र चलित नहीं होते। ये नरसिंह हैं अर्थात् मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं। सिंह का अर्थ शेर न समझना। सिंह का अर्थ है श्रेष्ठ। जैसे कहते हैं ना कि सिंहासन पर श्री जी को विराजमान करो। तो सिंहासन का यह अर्थ नहीं है कि सिंह जैसे पैर बनावे, फिर उसका आसन बनावे। सिंह का अर्थ संस्कृत में श्रेष्ठ भी है। सिंह-आसन मायने श्रेष्ठ आसन। जैसा चाहे डिजाइन बनावे, जो सुन्दर हो, शोभायमान हो, बैठने में अच्छा स्थान हो, उस सब का नाम सिंहासन है। नहीं तो आप वैसे ही कुछ कल्पनायें करके सोचिये कि गुरु विराजें या भगवान विराजें? तो ऐसा आसन चाहिये कि जिसमें सिंह के जैसा पंजा लगा दिया गया हो। यह प्रथा चल गयी तो क्या, जो है सो ठीक है, मगर यथार्थ बात तो समझिये। कोई चित्र भी बना हो जानवर या अन्य किसी जीव का तो उस पर योगीजन नहीं बैठ सकते। जहां ब्रह्मचर्य के भेद बताये गए हैं- 18 हजार शील के भेद कहे गए हैं उसमें चित्र से सम्बंधित भी भेद हैं कुशील के। जैसे स्त्री या देवांगना या तिर्यञ्चिनी को निरखकर कोई अपने भाव विकृत करे तो वह कुशील है ना, इसी तरह फोटो देखकर

भी कोई विकृत भाव करे तो वह कुशील है ना। तो इन चित्रों के आधार से भी पाप लगता है। तो जो चित्र बने हुए हों उन पर तो योगीजन बैठ भी नहीं सकते। तो सिंह का अर्थ श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ आसन, श्रेष्ठ वृत्ति, सिंह वृत्ति अर्थात् जो कायर मनुष्यों से न बन सके ऐसे निर्मोह पुरूषों की वृत्ति। उसका नाम है सिंह वृत्ति। ये नरसिंह योगीश्वर जल की धाराओं के बाण से ताड़ित भी हो रहे हैं, पर अपने उद्देश्य से रंचमात्र भी चलित नहीं होते। क्या उद्देश्य बनाया था? मैं अपने आपमें दृष्टि रचाकर रमूँगा, आनन्द पाऊँगा।

चारित्र से अविचलितता होने का कारण संसारदु:खभीरुता- क्यों नहीं चरित्र से चलायमान होते वे योगीश्वर? कि वे इन संसार के दु:खों से भयभीत हैं। जैसे कहीं बाहर आपत्तियों का डर हो किसी को तो वह घर के अन्दर ही रहता है, बाहर नहीं निकलना चाहता। अथवा जैसे बड़ी तेज सावन की वर्षा हो रही हो, जहाँ बिजली भी तड़कती है, मेघ भी गरजते हैं, बड़ी कठिन वर्षा चल रही है, ऐसी कठिन वर्षा के बीच उसे कोई अच्छा घर ठहरने के लिए मिल जाय तो उस घर में ठहर जाता है और जब तक वह भयंकर वर्षा समाप्त नहीं हो जाती तब तक वह उस मकान से बाहर निकलने की इच्छा नहीं करता है, क्योंकि बाहर दु:ख ही दु:ख है, बड़ा उपसर्ग और कष्ट ही कष्ट है, ऐसे ही उन योगियों ने यह निरखा कि बाहर तो कष्ट ही कष्ट है, अर्थात् इस उपयोग को यदि बाहरी पदार्थों में लगा दिया जाय तो जन्म मरण क्लेश आकुलता ये सारी विपत्तियाँ आती हैं। उन दु:खों से भयभीत होकर ये योगीन्द्र अपनी आत्मा में विराज रहे हैं, इसी कारण अब वे अपने आत्मा से बाहर निकलना चाहते। चाहे मेघ बरस रहे हों; चाहे तीव्र गर्मी पड़ रही हों और चाहे कोई शत्रु अथवा तिर्यंच उनका भक्षण भी क्यों न कर रहे हों, किन्तु ये योगी अपने आत्मा से बाहर नहीं निकलना चाहते। आत्मा में रहने का अर्थ क्या है? जीव का स्वरूप ज्ञान तो है ही। यह ज्ञान इन दुनियाभर के पदार्थों को जानता है, यह तो कहलाया बाहर निकलना। और यह ज्ञान अपने ही ज्ञान के स्वरूप को जानने में लग जाय, मेरा यह ज्ञायकस्वरूप है जाननमात्र, प्रतिभासमात्र, जहाँ केवल प्रतिभास ज्योति ही बनी हुई है ऐसा ज्ञानप्रकाश यह ही मेरा स्वरूप है, यह ही मैं हूं, उस ज्ञान को ही ज्ञान में बसायें। ज्ञान में और कुछ चीज न लायें बस ज्ञानप्रकाश, प्रकाश ही प्रकाश ज्ञान में रहे, इसे कहते हैं आत्मा में रहना। यों वे योगी आत्मा में रहा करते हैं, इस कारण वे बड़े वर्षा के उपद्रव सहकर भी अपने चरित्र से चलित नहीं होते।

साधुवों की आराध्यता का कारण- देखिये- साधुवों का दर्जा एक परमेष्ठी में माना गया है। वे जन्म से जीवन से तथा प्राणों से सदा उपेक्षा रखते हैं। विधिपूर्वक यदि प्राण टिक सकते हैं तो टिकें, नहीं टिक सकते हैं तो मत टिकें, किन्तु उन साधुवों का आत्मध्यान इतना प्रबल होता है कि

वे चारित्र से किसी भी कठिन उपसर्ग में चलायमान नहीं हो सकते। इसीलिए साधु का चरित्र बहुत निर्दोष और निष्कलंक होता है। होना ही चाहिये। जब हमने अपनी पूज्यता में पंचपरमेष्ठी का विषय बनाया, आधार बनाया तो यों समझिये कि वे पांचों ही परमेष्ठी किसी दृष्टि से एक ही लाइन में एक ही जाति में हैं। वह लाइन, वह जाति है वीतरागता की। किसी ने वीतरागता का लक्ष्य बनाया है और उसमें चल रहे हैं, तो कोई वीतराग बन चुके हैं, तो कोई वीतराग बनने के बाद शरीर से भी रहित हो गए हैं, पर वीतरागता ही एक उपासनीय चीज है।

राग से क्लेश होने का ही निर्णय- हम आप सबको यही निर्णय रखना चाहिये कि राग से ही क्लेश है। क्लेश से बचना है तो राग दूर करना होगा। कितने ही साधन मिले हों राग के, उनमें आसक्त न रहना होगा, और बड़े पुरूषों का बड़प्पन भी इसी में है, शोभा भी इसी में है कि प्रत्येक साधन पाकर भी उन साधनों में रागी न रहे, उनसे विरक्त ही रहे। जैसे जल में उत्पन्न होकर भी कमल जल से अलग रहता है। जल में ही उत्पन्न हुआ, जल से ही उसका जीवन चलता है, जल के ही बीच रहता है, फिर भी जल से वह कमल अछूता रहता है। और वह कमल प्रफुल्लित भी तभी तक रहता है जब तक कि उस जल से बिल्कुल पृथक रहता है। कदाचित् वह कमल जल में आकर मिल जाय तो वह सड जायेगा, बरबाद हो जायेगा। ठीक इसी तरह हम आप सब जीव गृहस्थी से पैदा हुए, गृहस्थी से ही पोषण मिलता है, बात सही है और गृहस्थी में रह रहे हैं यह भी बात है, तिस पर भी यदि गृहस्थी में रम जायें, गृहस्थी में ही सम्पर्क रखें तो जीवन सड जायेगा, बरबाद हो जायेगा। गृहस्थी के कार्य करके भी, गृहस्थी में रहकर भी गृहस्थी से निराला ज्ञान बनाये रहेंगे तो जीवन उन्नत होगा, वहाँ कुछ लाभ मिलेगा। तो प्रत्येक परिस्थितियों में यह ध्यान रखना है।

अन्तर्दृष्टि होने पर ही बाह्य की असारता का परिज्ञान- जब इस मायामयी दुनिया में दृष्टि देते हैं तो दिमाग एकदम बदल जाता है- ओह ! यहां रहकर नाम न कमाया तो क्या किया, यहां रहकर इज्जत न बढ़ाई तो क्या किया? देश के बीच यदि अच्छे पद के लिए लोगों की अंगुली मुझ पर न उठी तो मेरा क्या जीवन है आदि। लेकिन जब परमार्थ पथ पर अपना चित्त ले जायें और एक समीचीन दृष्टि से निरखें तो वे सब बातें असार मालूम होती हैं और यह निर्णय होता है कि मैंने यदि अपने स्वरूप की संभाल न की तो फिर इस नरभव का क्या अर्थ है? यदि मैं अपने आपमें अपने को रमाकर अकेले में ही बनकर प्रसन्न न बना सका तो मैंने कुछ कमाया ही नहीं। जीवन की सफलता तो ज्ञानानुभव से ही है। प्रत्येक पुरुष अपने ज्ञान में कुछ न कुछ अनुभव करता रहता है। क्या बनना है, क्या करना है, मैं क्या हूं? इस बात का कुछ न कुछ जरूर अनुभव करता है, लौकिक अनुभव करने से तो आत्मा को शान्ति नहीं मिलती। अनुभव कीजिये इस प्रकार कि मैं हूं,

इस देह से भी निराला हूं। अन्य से निराला तो हूं ही, मैं हूं केवल ज्ञानप्रकाशमात्र। जो रागद्वेष के भाव उठते हैं वे भी मैं नहीं हूं। मैं उनका हुक्म क्यों मानूँ। इस मुझ ज्ञानमात्र का जो भाव है उसका जो हुक्म होगा उसे मानेंगे। रागद्वेष का जो हुक्म होगा अथवा रागद्वेष की प्रेरणा से जो हमारे विचार चलेंगे, हम उनका हुक्म न मानेंगे। हम उन विचारों के वशीभूत न होंगे। हम तो अपने ज्ञानभाव के वशीभूत रहेंगे। जब अपने अन्तरंग पर दृष्टि डालते हैं तो यह सारी दुनिया असार अहित दिखती है। इसमें पड़ने से कोई लाभ नजर नहीं आता।

आत्मज्ञान के लगाव में सर्वमुखी लाभ- अब यह देखिये कि इस मायामयी दुनिया की ओर ही पड़ जाने में न तो दुनिया से कुछ मिलेगा और न अपने आत्मा से कुछ मिलेगा और आत्मज्ञान, सम्यग्ज्ञान में अपना चित्त बनाये रखने से पुण्यवश दुनिया में भी इज्जत होगी और आत्मकल्याण का मार्ग भी मिलेगा। है क्या यहाँ? धन दौलत किसी के हाथ पैर नहीं कमाते जिसने जो कुछ जैसा पूर्वभव में पुण्य कमाया था उसके अनुसार उसे यहाँ मिल रहा है। यह सोचना भूल है कि मेरी बुद्धि, मेरे हाथ पैर ये धन कमाते हैं। अरे जब पुण्य का उदय है तो आपके बिना ही सोचे जहां चाहे लक्ष्मी बरसती है और यदि उदय अनुकूल नहीं है तो अनेक उपाय करने पर भी धन नहीं मिलता। तो कमाई का साधन पुण्य है। पुण्य का साधन धर्मपालन है और धर्मपालन तो यथार्थ ज्ञानाराधना है, पर उसके साथ जो शुभ राग लगा है उससे जो पुण्य बँधता है उसका फल है इस धन वैभव का आना। तो इस धन में ही अधिकाधिक दृष्टि न रखें, जैसा होना होगा सो होगा। पर मैं आत्मा का हित करूँ, ज्ञान करूँ, सहजज्ञानस्वरूप को जानूँ, इसमें ही संतुष्ट रहूं, ऐसा यत्न करें तो इसमें ही सर्वसिद्धि है।

योगियों की प्रवीरता- यहां तो मोही जीवों को ऐसा लगता है कि ये परीषह, उपसर्ग, विपदायें मेरी बैरी हैं, इनसे मेरा घात होता है, इन दु:खों से मेरी बरबादी है। लेकिन ये योगीश्वर परीषहों के, उपसर्गों के, विपदाओं के बैरी हैं, अर्थात् परीषहों को नाश करने वाले हैं, जिनके आगे ये परीषह सब निष्फल हो जाते हैं। इसी कारण इन योगियों को प्रवीर कहा जाता है। ये प्रकृष्ट वीर हैं। किसी भी जगह किसी भी समय योगियों को कोई शंका नहीं रहती। जिन्होंने अपने ज्ञानस्वरूप में ही रुचि लगायी है वे किसी भी समय हों, किसी भी स्थान में हों, जहां उन्होंने अन्तर्दृष्टि की, अपने आपके स्वरूप में निरखा कि उनके सारे संकट समाप्त हो जाते हैं, कोई संकट ही नहीं रहता। तो लोग विपत्तियों से घबड़ाते हैं और ये विपत्तियां योगियों से घबड़ाती हैं। ये विपत्तियों पर, परीषहों पर विजय करने वाले प्रकृष्ट वीर हैं। ऐसे योगियों की भक्ति की जा रही है। योगियों के इस अंत:साहस का ध्यान करने से धैर्य बढ़ता है, सन्तोष होता है, सन्मार्ग का दर्शन होता है।

श्लोक 7

अविरतबहलतुहिजकणवारिभिरंघ्रिपपत्रपातनै-

रनवरतमुक्तसीत्काररवै: परुषैरथानिलै:।

शोषितगात्रयष्टय: इह श्रमणा धृतिकम्बलावृता:,

शिशिरनिषां तुषारविषमां गमयन्ति चतु:पथे स्थिता:।।7।।

योगियों का शीतपरीषहविजय- इस योगभक्ति में अब तक मुख्यतया गर्मी और बरसात- इन दो प्रकार के परीषहविजयों का वर्णन किया गया। अब इस छंद में शीतपरीषहविजय का वर्णन कर रहे हैं। ऐसी शीतऋतु है, इतनी विकट ठंड है कि जहां बर्फ भी पड़ने लगी, पेड़ की पत्तियों से गिरने वाली बहुत मोटी बरफ की वर्षा की कण के जलों से जिनका शरीर धुल रहा है ऐसी कठोर बर्फ की बिन्दुवें जिनके शरीर पर टपक रही हैं, जहां देखो वहां निरन्तर सीत्कार के शब्द ही छूट रहे हैं, लोग सी-सी कर रहे हैं, और वातावरण में भी कुछ सी-सी की धुन समाई हुई है, ऐसी कठिन बर्फ की बरसात में जहां वृक्ष के नीचे योगीश्वर विराजे हैं अथवा एकदम चौहट्टा पर खुली जगह में योगीश्वर विराज रहे हैं। जहां उस बर्फ की वर्षा के साथ-साथ वायु भी चल रही है। शीतवायु के कारण जिनकी शरीर रूपी लाठी शुष्क हो गयी है, जैसे लाठी सूखी नजर आती है ऐसे ही जिनका शरीर सूखा नजर आ रहा है ऐसे ही श्रमण ऐसी कठिन ठंड में ठंड परीषह को सहन कर डालते हैं।

योगियों के धैर्य का महान् आलम्बन- अब जरा विचारिये ऐसी क्या चीज योगियों को प्राप्त हुई है? उन्होंने ऐसा क्या ओढ़ रखा है जिससे इतनी कठिन ठंड भी उन्हें बाधा नहीं पहुंचा रही है, जो अन्तरंग से रंचमात्र भी चलित नहीं हो रहे हैं। तो उन योगियों ने धैर्य रूपी कम्बल ओढ़ रखा है। ये योगी जानते हैं कि सारभूत आत्मा का काम तो अपने सहज स्वभाव की दृष्टि करना और इस निज भगवान आत्मा के निकट अपने उपयोग को बसाये रहना है। यह जन्म मरण तो एक बड़ा भारी झंझट है। ये शरीरादिक समागम ये तो दु:ख के मूल हैं इनमें क्या राजी होना? एक अपने अन्त:ज्ञायकस्वरूप से राजी हैं, वे अपने ज्ञान को ज्ञानज्योति में मिलाने का निरन्तर यत्न कर रहे हैं। खुद का है ज्ञानस्वभाव, मेरा क्या स्वरूप है, इस चीज को बड़े अभेदभाव से चितारकर इस ज्ञानोपयोग को उस ज्ञानस्वरूप में मिलाने का यत्न किया करते हैं, और उस काल में जब कि ज्ञान में ज्ञानस्वरूप समा जाता है तो उनको जो अद्‌भुत अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है उस आनन्द के सामने ठंड गर्मी आदिक बाधावों को क्या बाधा गिने? जैसे कोई लोभी पुरुष लोभ में आकर बाहरी

कष्टों को तो कुछ नहीं गिनता, अर्थ लाभ होना चाहिये, चाहे ठंड हो, चाहे बरसात, चाहे कोई किसी भी प्रकार के वचन कहे, समस्त कष्टों को लोभी पुरुष सह लेता है, क्योंकि उसे तो द्रव्य का लोभ लगा है, लेकिन योगियों को अपने अन्तस्तत्त्व से प्रेम जगा है। ज्ञानमय ज्ञानानुभूति होने से जहाँ केवल अमूर्त ज्ञानस्वरूप ही उपयोग में रहता है। खुद ही ज्ञान ऐसा सामान्य बन जाता है कि ज्ञानप्रकाश ही रहता है, कोई विकल्प नहीं, किसी परपदार्थ का ख्याल नहीं, इस स्थिति का लोभ लगा है योगियों को, उसे लोभ नहीं कहना, किन्तु विशुद्ध अनुराग कहना चाहिये। तो इस आन्तरिक ज्ञानस्वभाव के विशुद्ध अनुराग के कारण इन योगियों को ये बाह्यपरीषह बाह्यक्लेश ये कुछ भी मूल्य नहीं रखते हैं। इसे सह लेते हैं। इन्होंने धैर्य का कम्बल ओढ़ रखा है, धीरता है, गम्भीरता है।

बाहिरी आराम में आन्तरिक आराम का अभाव- भैया ! क्या बाहरी आराम तकना। आराम तो अपने आपके आपमें है। बाहर के आरामों से आराम नहीं कहलाता। बडे-बडे धनिक लोग बड़े कोमल गद्दों में बैठे रहते हैं, पड़े रहते है, वहीं खाना पीना बराबर हाजिर होता रहता है, सेवकजन उनकी हर प्रकार की सेवा करने के लिए हाजिर रहा करते हैं। कितना आराम है उन्हें, लेकिन कोई मानसिक चिन्ता हो गयी हो तो ऐसे कोमल गद्दी में पड़े रहने पर भी वे हाहाकार के करवट बदलते रहते हैं। तो बाहरी आरामों से आराम समझा जाय क्या? भीतरी आत्मा यदि आराम में है, अपने को आराम में किया गया है, अपने भगवान स्वरूप पर उसका ध्यान विशेष है तो आराम वहां है। ये योगीश्वर शीतकाल में जहां कि बर्फ पड़ रही है और बहुत ठंडी झंझा वायु भी बड़े वेग से बह रही है, ऐसे समय में चौहट्टे पर स्थित हुये, जंगल वन नदी आदिक के स्थानों पर स्थित हुए ऐसे शीतकाल की रात्रि को जहां कि बड़ा तुषार पड़ रहा है बड़े आनन्द में व्यतीत कर देते हैं। इन योगीराजों के शारीरिक संहनन भी अच्छा होता था जिससे ऐसे विकट समय में शारीरिक बाधा उनके नहीं होती थी, अथवा शारीरिक बाधा मानने की हैं। बाधा तो असली यह है कि जहां उन्हें भी प्राण जाते हैं। सो उनका संहनन भी मजबूत और प्राण जाते हों तो उसकी परवाह नहीं। ये योगी तो अपने आत्माराम के आराम को आराम मानते हैं।

भगवान आत्मा के निकट रहने में योगियों का संतोष- ये योगी अपने ज्ञानस्वरूप के निकट रहने में सन्तुष्ट रहते हैं। जैसे यहां छोटे बच्चे अपने माता पिता के पास ही बैठे रहने में सन्तोष मानते हैं और वे अपने को निःशंक, निरापद समझते हैं ऐसे ही ये योगीश्वर अपने ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा के निकट रहने में सन्तोष मानते हैं और अपने को निरापद निःशंक समझते हैं। जो बात इन योगीश्वरों ने प्राप्त की हैं वे सब बातें हम आपमें भी उपस्थित हैं। वे भी चेतन थे, हम आप भी चेतन हैं, वे भी एक ज्ञानस्वरूप थे, हम आप भी ज्ञानस्वरूप हैं, एक ज्ञानदृष्टि सही करने की

आवश्यकता है। जो सन्तोष ज्ञानी योगी प्राप्त करते हैं उस सन्तोष की आभा हम आप भी पा सकते हैं। इतनी गहराई से अपने आपके अन्दर चिन्तन करने की आवश्यकता है। जरा तकिये तो अपने आपमें, इस शरीर में बसा है चैतन्यप्रकाश। अपने आपके अन्दर जो सोचा करता है और मैं मैं की आवाज लगाया करता है। मैं हूं, मैं अमुक करता हूं, मैं ऐसा करूँगा, मुझे यह करना है। जिसमें मैं मैं की आवाज आती है, अहं प्रत्ययवेद्य है ऐसा यह भगवान आत्मा इस पर दृष्टि तो कीजिये, यह अमूर्त है, रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित है। इस आत्मा को कोई दूसरा नहीं पहिचान रहा, कोई नहीं जान रहा। हम ही अपने को जान पाते हैं, और कब जान पाते हैं जब हम अपने को ज्ञानमात्र स्वरूप में निरखते हैं। केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, ऐसी ही बार-बार भावना बनती है तो इसके अभ्यास में जब यह ज्ञान ज्ञान में स्थित हो जाता है उस समय हम अपने को पहिचान पाते हैं कि मैं तो यह हूं। ऐसी पहिचान कोई दूसरा नहीं कर सकता। कोई दूसरा करेगा पहिचान तो वह अपने ही ज्ञानस्वरूप की करेगा, तब फिर मेरा किसी दूसरे जीव से किसी भी विधि से कुछ सम्बन्ध नहीं है। मैं अपना ही स्वयं जिम्मेदार हूं, ऐसी प्रतीति जिन ज्ञानियों के हो जाती है, उनको बाहर में आनन्द नहीं आता, उन्हें तो अपने ही भीतर रमने में आनन्द मिलता है। वे तो स्वयं में स्वयं सन्तुष्ट रहते हैं।

श्लोक 8

इति योगत्रयधारिण: सकलतप:शालिन: प्रबृद्धपुण्यकाया:।

परमानन्दसुखैषिण: समाधिमग्रन्थं दिशंतु नो भदंता:।।8।।

योगियों का योग- ये भगवान योगीश्वर तीन योगों के धारी हैं- मन, वचन और काय को जिन्होंने वश किया है और इसी कारण वर्षा, शीत, गर्मी तीनों समय योग धारण करते हैं, समस्त बरसात के परीषहों को सह लेते हैं, ग्रीष्म योग में आताप सह लेते हैं, शीतकाल में शीतपरीषह सह लेते हैं ऐसे तीनकाल में योगों को धारण करने वाले ये योगीश्वर हम सबको प्रमुख समाधि प्रदान करें, समाधि का उपदेश करें, हममें भी समतापरिणाम जगे। जैनशासन में गुरूवों की चर्या, पर्वों की प्रक्रियायें, पूजा की क्रियायें, दर्शन, ध्यान आदिक की क्रियायें सब कितनी महत्त्वपूर्ण हैं, जहां ढोंग का नाम नहीं, ठोस उद्देश्य भरा हुआ है। ऐसे वातावरण में हम आपने जन्म लिया है। तो जैसे किसी बड़े पुरुष से समाज कहती है ना कि भाई तुम हमारी समाज के बड़े पुरुष हो, तुम पर बड़ी जिम्मेदारी है, ऐसे ही समझियेगा कि इस लोक में सबसे महान् सुयोग पाया है हम आपने, तो हम पर खुद की बड़ी जिम्मेदारी है। देखिये गुरूवों की चर्यायें निरखने से मन में दु:खों को समता से सहने का

उत्साह जगता है। जब हम ऐसी समस्त परीषहों के बीच आत्मज्ञान में रत, खटपटों से रहित अत्यन्त विरक्त योगियों के गुणों का ध्यान करते हैं तो हममें भी उत्साह जगता है, कष्टसहिष्णु बनने का। छोटी-छोटी बातों में अधीर हो जाना यह अज्ञानियों का काम है। ज्ञानी पुरुष जिन्होंने एक सम्यग्ज्ञान के प्रकाश को ही वैभव माना है वे संसार की छोटी-छोटी परिस्थितियों में, छोटे-छोटे वातावरणों में रंच भी नहीं घबड़ाते हैं, धैर्य रखते हैं। ये योगीश्वर जब ऐसे कठिन परीषह सह लेते हैं तो हमें यदि कोई जरासा कष्ट आया है तो उसमें क्या घबड़ाना?

सात्त्विक रहन सहन में धैर्य, और भक्ति का अवसर- भैया ! अपना जीवन सात्त्विक रहना ही उचित है। चाहे कितने ही आराम के साधन मिले हों, चाहे बड़ा वैभव प्राप्त हो फिर भी अपने जीवन को सात्त्विक ही बनाना चाहिये। पैसों का उपयोग इस शरीर के आराम के लिए नहीं करना चाहिये। किन्तु जीवन तो रहे सात्त्विक, रहन सहन भोजनपान तो रहे सात्त्विक और यदि लक्ष्मी बढ़ती है तो धार्मिक कार्यों में, परोपकार में, दान देकर सन्तुष्ट रहना चाहिये, पर अपने आपका आराम बढ़ाने में अधिक व्यय करके सन्तोष मानने की प्रकृति अच्छी नहीं है। अपने शरीर को यदि बड़े आरामतलबी में रखा और कदाचित् कोई ऐसे कष्ट के दिन देखने पड़े कि भोजन पानी भी नसीब नहीं होता तो फिर उन दिनों में बड़ा कष्ट उठाना पड़ेगा। इस कारण जीवन को बड़े सात्विक रहनसहन में रखना चाहिये। इसी प्रकार धन खर्च की बात है। अपने शरीर के आराम में बहुत धन व्यय कर दिया, वह धन नष्ट हो गया, आराम के दिन भी खत्म हो गए, लाभ कुछ न मिला। यदि धार्मिक कार्यों के लिए खर्च किया गया होता तो उसका फल अब भी सामने होता। जो लोग धार्मिक कार्यों में धन व्यय करके मरण को प्राप्त हो चुके हैं उनकी कीर्ति का जीता जागता उदाहरण आज भी हम आपके सामने उपस्थित होता है। ऐसे पुण्य कार्यों से उन करने वालों को भी सन्तोष मिला और हम आपको भी उनकी उदारता का उदाहरण सुनकर सन्तोष मिलता है। तो निष्कर्ष यह निकला कि जीवन सात्त्विक वृत्ति से ही रहना चाहिये। इसमें प्रभुभक्ति का अवसर मिलता है। सात्विक जीवन से रहने में व्रत संयम के लिए उत्साह जगता है और व्रत संयम ज्ञान वैराग्य से ही जीव का हित है। तो ऐसे योगियों के गुणों का ध्यान करने से हम आपको धैर्य की शिक्षा मिलती है। पर्वों की प्रक्रियायें देख लो- दशलाक्षण पर्वों के दिन, अष्टाह्निका के दिन अथवा दीपावली का पर्व आदि पर्व दिनों में भक्त पुरूषों का कितना पवित्र हृदय रहता है। धर्म में, उपवासों में, प्रभुभक्ति में चित्त रहे ऐसा प्रोग्राम इन पर्वों में रहता है। जैनशासन के अनुसार चर्या करने में भी कितनी पवित्रता बर्तती है। दिन में ही भोजन बनाना, दिन में ही खाना, यह बात जहाँ रहती है वहाँ धर्म का जीता जागता वातावरण रहता

है। यदि ऐसे एक दुर्लभ समागम को पाया है तो हम आपकी बड़ी जिम्मेदारी है। धर्मपालन करके, ज्ञानार्जन करके अपना जीवन सफल करें और दूसरों को मार्ग बतायें।

योगियों की तपस्विता- ये योगीश्वर समस्त तपों से युक्त हैं, तो ऐसे योग को धारण कर सकते हैं, परीषहों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं उनके लिए सभी तप आसान हैं। अनशन उपवास करना, भूख से कम खाना, अटपट आखडियां ले लेना कि ऐसा अगर दिखा तो आज आहार लूँगा, परीक्षा करना अपने आपके धैर्य की, रसपरित्याग करना, एकान्तस्थान में रहना, बैठना, सोना और अनेक प्रकार के काय क्लेश करना, कंकरीली जमीन पर सो रहे हैं एक करवट से और प्रसन्न हैं। सर्दी गर्मी के परीषह सहन कर रहे हैं फिर भी सम्यग्ज्ञान के उपयोग से वे प्रसन्नचित्त रहा करते हैं। तो उन योगियों को ये बाह्य तप धारण करना आसान है और अन्तरंग तप के तो वे रुचियां हैं ही। कोई दोष लगने पर प्रायश्चित्त करना, दूसरे साधुजनों का विनय करना, अपने आपमें शाश्वत रहने वाले ज्ञानस्वरूप का विनय करना, अपने आपकी ओर नम्र होना अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूप में समा जाना। बाहरी झंझट विकल्पों से दूर रहना यही अपनी सेवा है और इसी ढंग से दूसरों की सेवा करना, स्वाध्याय करना, अपने आपका अध्ययन करना और शरीर से भी ममत्व छोड़ना, ध्यानरत रहना, ये समस्त तप उन्हें आसान हैं। जिन्होंने अपने पुण्यकाय को अर्थात् ज्ञान को, चेतन को उन्नतिशील बनाया है ऐसे योगीश्वर हम आप सबको प्रमुख समाधिभाव प्रदान करें।

योगभक्ति में समता की प्रार्थना- भैया !योगियों की पूजा अर्चना करके और आशा ही क्या करनी चाहिये? जो उनके पास है, जिसमें वे रम रहे हैं उसकी ही तो आशा रखनी चाहिए। उनकी सेवा सुश्रुषा करके हममें भी समता का परिणाम बने। इस लोक में शुद्ध ज्ञान जगना, समता परिणाम रहना, धैर्य रहना ये बातें यदि अपने आप आत्मा में आ सकें तब तो भला है, इनके विरूद्ध अगर सांसारिक मौज रुचना, विषय कषायों में लगे रहना, ये ही अगर किए गए तो जीवन बेकार है। पीछे पछताना पड़ता है। लेकिन जैसे कहावत है अब पछिताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत। सारा जीवन तो मोह मोह में ही गुजार दिया, अब कोई वश न रहा, शरीर भी अपने आप उठ बैठ सकता नहीं, बच्चों के अधीन हो गए है ऐसी स्थिति में जरा-जरासी घटनाओं में क्रोध उत्पन्न होता है, भीतर अभिमान जगता है। अरे मैंने तो सब बच्चों को ऐसे कष्टों से पाला पोषा, इन पर इतना-इतना खर्च किया, इनसे मैं बड़ी आशा रखता था, इतनी कठिन सेवा की, फिर भी ये मुझे पूछते ही नहीं हैं। अनेक प्रकार के जहां संक्लेश, संकल्प विकल्प होने लगते हैं अब वहां क्या किया जाय?

ज्ञानयोग बिना लाभ का प्रभाव- दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है ना- (बालापन में ज्ञान न लह्यो। तरूण समय तरूणी रत रह्यो। अद्धमृतकसम बूढ़पनो। कैसे रूप लखे आपनो।) यह कथा सबकी

नहीं है कि जितने बूंढे हों वे सब आत्मस्वरूप के दर्शन से वंचित रहते हों। अन्यथा ये योगीमुनि आखिर जीवन में रहेंगे तो बूंढे तो होंगे ही। फिर क्या उनका जीवनभर तपश्चरण करना बेकार है? क्या तपश्चरण करना? आखिर बूंढे होंगे, आत्मस्वरूप के लखने से रहित हो जायेंगे। तो क्या फायदा? ऐसी बात नहीं है। यह उस ही जीव की कहानी है जिस जीव ने बचपन में ज्ञान नहीं पाया, और उस ही जीव ने जवानी में स्त्रीलीन होकर अपना जीवन गँवाया। वही जीव अब बूढा़ होता है तब वह आत्मस्वरूप को नहीं लख सकता है। लेकिन उन्होंने बचपन में ज्ञान कमाया, जवानी में संयम और तप का आदर किया, अपने आत्मा की सावधानी रखी वे पुरुष बूंढे हो जायें तो भी आत्मस्वरूप को लखते हैं। इन योगीश्वरों ने अपने तप और योग के धारण से ज्ञानशरीर को बढ़ाया है, सांसारिक सुख, विषय सुख, विनाशीक सुखों की वे रंचमात्र भी इच्छा नहीं करते, आत्मा का स्वरूप आनन्दमय है सो उसही आत्मा के आश्रय से जो आनन्द प्रकट हुआ है उस ही आनन्द की वे चाह करते हैं।

योगिदर्शन से आत्मा का उपदेश- ऐसे योगीश्वर जिनके ध्यान के प्रताप से भक्तजन समतापरिणाम कर लेते हैं, वे योगीश्वर जंगल में जहाँ विराजे रहते हैं वहां सिंह हिरण आदिक परस्पर जाति विरोधी जानवर इस प्रकार साथ में बैठते हैं कि जैसे एक परिवार के ही सब जीव हों। उन पर किसने असर डाला है? उनको किसने इस प्रकार से चलाया? अरे वे जीव भी संज्ञी पन्चेन्द्रिय हैं, उनमें भी मन है, विवेक है, वे जब परम आनन्दरस में लीन योगियों की शान्त मुद्रा को निरखते हैं जिनके मुख से सहज आनन्द के कारण मधुर मुस्कान अपने आप प्रकट हो रही है ऐसी उस आनन्दभरी मूर्ति को जब वे जीव निरखते हैं तो उनके चित्त पर स्वयं प्रभाव पड़ता है और वे बैर विरोध आदिक दुष्कर्मों को त्यागकर निर्बैर होकर ठहरते हैं। तो जिनकी मुद्रा को निरखकर पशु भी बैर छोड़ देते हैं, समतापरिणाम में यथायोग्य आ जाते हैं वे योगीश्वर हमें भी प्रमुखतया समाधिभाव को प्रदान करें। इष्ट में हर्ष न जगे, अनिष्ट में द्वेष न जगे, हम अपनी धीरता में बने रहें ऐसा बल ऐसा ज्ञान मेरे में प्रकट हो। इस प्रकार योगभक्ति में योगियों के गुणों का वर्णन करके उन योगियों के ध्यान से चाहा है यह कि मेरे को भी समाधियोग प्राप्त हो।

प्राकृत योगिभक्ति:

श्लोक 1

थोस्सामि गुणधारणं अणयाराणं गुणेहिं तच्चेहिं।

अन्जलिमउलियहत्थो अभिवंदंतो सविह्वेण।।1।।

आत्मा का प्रयोजन ज्ञान और आनन्द- इस लोक में स्तवन करने योग्य कौन होता है? स्तवन करने वाला चूँकि ज्ञानानन्दस्वरूप यह आत्मा है और उसका प्रयोजन प्रत्येक काय में ज्ञान और आनन्द का लाभ है सो ज्ञान आनन्द जिनके प्रकट होता है ऐसे योगी स्तवन करने योग्य होते हैं। प्रत्येक जीव ज्ञान और आनन्द की चाह करते हैं। वस्तुत: इन दो चाहों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी चाह जीव की नहीं होती है और जो चाहों का प्रसार बन गया है वे सब चाहें इन दो चाहों में गर्भित हैं। इन दो चाहों का या तो ज्ञान की चाह से सम्बन्ध है अथवा आनन्द की चाह से सम्बन्ध है। कोई मनुष्य अगर धनी बनने की इच्छा रखता है तो वह धनी बनने के लिए धनी नहीं बनना चाहता, किन्तु आनन्द चाहने के लिए धनी बनना चाहता है। उसने आनन्द मान रखा है, इस ही बात में भ्रम से कि मैं विशेष वैभव वाला होऊँगा तो ये दुनिया के लोग मुझे अच्छा मानेंगे। ऐसी भ्रम वासना करके और पर्यायबुद्धि करके धनी बनने की चाह उत्पन्न की है। वह चाह भी धनी बनने के लिए नहीं है किन्तु आनन्द पाने के लिए है। कोई मनुष्य बहुत विद्या का अर्जन करता है, लौकिक विद्यायें बहुत हैं, विज्ञानवाद में भी अविष्कार आदिक के प्रयोग अधिक हैं। कुछ कर लिए गए हैं, कुछ किए जाने हैं, उन कार्यों में लगकर जो किसी विद्या की सिद्धि हो जाती है, किसी विद्या में निपुण हो जाता है तो उससे मौज मानता है यह जीव और दूसरे लोग उस विद्या के प्राप्ति के अभिलाषी बनते हैं, इन लौकिक विद्यावों की चाह आनन्द पाने के लिए है, अथवा किन्हीं-किन्हीं पुरुषों को केवल एक ज्ञान पाने के लिए है, वहां भी मूल प्रयोजन आनन्द है तो ज्ञान और आनन्द इन दो की चाह में ही सब चाह गर्भित हैं। विशेष क्या कहना? सभी अपने-अपने जीवन के अनुभवों को पहिचान सकते हैं। कोई पुरुष स्त्री पुत्रादिक में बड़ा स्नेह रखता है तो वह उन स्त्री पुत्रादिक के लिए राग नहीं कर रहा है, किन्तु एक अपने आनन्द के लिए राग कर रहा है। इन मोही जीवों ने इसमें ही आनन्द समझ रखा है कि स्त्री पुत्रादिक मुझ पर आकर्षण रखें, इनसे मुझे आनन्द मिलेगा। तो जितने भी कार्य किये जाते हैं, जितनी भी चाह की जाती है, उनमें मूल में आनन्द पाने की चाह पडी़ हुई है।

अज्ञात और क्लेश से निवृत्त ज्ञानानन्दोपयोगी महापुरूषों की स्तुत्यता- जब सब बातों का परिचय पाकर सबकी असारता जानकर जो जीव इन सब बातों से उपेक्षा कर देते हैं और एक अपने आत्मकल्याण की अभिलाषा रखते हैं वे शरण गहते हैं उन पवित्र पुरुषों का जिनका कि ज्ञान और आनन्द विशुद्ध हो रहा है। योगियों का स्तवन भी इसी कारण किया जाता है कि उनका ज्ञान और आनन्द विशुद्ध चल रहा है। तो संसार में वस्तुत: स्तुत्य पुरुष हैं योगी। बाह्य में इन्हीं का सहारा है सिद्ध और योगियों का। सिद्ध में अरहंत भी आ गए, क्योंकि हमें जो स्वरूप चाहिये, जिसे हम सिद्ध में निरखते हैं वह स्वरूप अरहंत में भी पाया जाता है, इसलिए सिद्ध कहने से अपने प्रयोजन में अरिहंत को भी ग्रहण करना और सिद्ध को भी ग्रहण करना और अन्तिम चरम अवस्था तो सिद्ध की ही होती है। केवल सिद्ध को ही ग्रहण कर लें तो इसमें अरहंत का कहीं अपमान नहीं है वे भी उस ही जाति के हैं और वे भी सिद्ध होने वाले हैं। शरण है तो दो स्वरूप का सिद्धस्वरूप का और योगस्वरूप का।

योगियों की क्षमारूपता- योगी की ही महिमा का कौन वर्णन कर सकता है? जिन पुरुषों का हृदय इतना पवित्र हो गया, जिनकी भावना, जिनका लक्ष्य इतना विशुद्ध है कि संसार में कुछ भी चाह नहीं करते। जिनका रहन-सहन इतना विरक्त रहता है, इतना विशुद्ध रहता है कि जहाँ रागद्वेष का कोई काम नहीं है, केवल एक आत्मा के ज्ञान की विशुद्धि का ही ध्यान बन गया है, ऐसा जो पुरुष है वह किसके लिए आदर्श न होगा? मूर्ख ही ऐसे होंगे जो ऐसे गुणधारी योगियों का स्तवन न करें और हृदय से उनकी प्रशंसा न करें। तो यह योगी पुरुषों की भक्ति चल रही है। इस छंद में कह रहे हैं कि जो अनेक गुणों के धारी हैं ऐसे योगीश्वरों की मैं स्तुति करता हूं, जो क्षमा की मूर्ति हैं, कोई कुछ किया करते हैं, इस ओर जिनके कोई राग रोष नहीं। श्रेणिक ने एक योगी पर उपसर्ग किया, मरा साँप डाला और तीन दिन बाद चेलना को खबर दी जाने पर चेलना सहित श्रेणिक आया तब साधु का उपसर्ग दूर किया। उपसर्ग दूर होने के बाद जब साधु निहारते हैं तो दोनों को कहते हैं-'तुम दोनों को धर्म लाभ हो।' भला ऐसी क्षमा की मूर्ति ऐसी समता की मूर्ति, किसके द्वारा स्तवन किये जाने योग्य नहीं है?

योगियों की आन्तरिक मृदुता- जिनमें मान का नाम नहीं।मान किस पर करें? शरीर को उन्होंने अपना समझा ही नहीं तो मान किसका करें, जो कुछ कलायें पायी हैं उनको वे योगीश्वर न कुछ जैसी समझते हैं। वे तो ऐसा मानते हैं कि यह ज्ञान कुछ भी नहीं है। आत्मा का ज्ञान तो लोकालोक का जाननहार है, अनन्तज्ञान है, यह ज्ञान क्या चीज है? जाति कुल प्रतिष्ठा इन सबको वे योगीजन

असार जानते हैं। ये तो आत्मा की कोई चीज ही नहीं हैं। किस पर मान हो और चूंकि वे अपने को एक अवस्था की दृष्टि से हीन दशा में समझ रहे हैं। जब तक संसार है, जब तक शरीर का बन्धन लगा है तब तक तो हीन अवस्था है। आत्मा का ऐसा बंधा रहने का काम न था। तो जो अपने को इस तरह अवस्था की दृष्टि से हीन निरख रहे हैं और जो कला प्राप्त की है, तपश्चरण पाया है उन सबको वे न कुछ समझ रहे हैं। मेरा आत्मा तो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति , अनन्त आनन्द से भरपूर है। किस पर मद किया जाय और मद किसके लिए दिखाना, यहां कोई हमारा प्रभु तो है नहीं। कोई मेरा पालनहार तो है नहीं, सभी कर्मों के प्रेरे अपने अपने कर्मानुसार रुलते फिरते इकट्ठे हो गए हैं, इनमें किसको क्या दिखाना, इन सब बातों का विचार करके जिन योगियों के मद रंच नहीं रहा है ऐसे नम्रता की मूर्ति योगीश्वर किसके स्तवन के योग्य न होंगे?

योगियों की निश्छलता और निर्लोभता की उपासना- जिनके मायाचार रंच नहीं है। छल कपट किस बात पर करना? संसार में कुछ अवस्था अच्छी है नहीं। धन, घर, लोक में इज्जत इनकी उन योगियों को कुछ चाह ही नहीं रही। जब कुछ चाह ही नहीं रही तो वे योगीजन छल कपट किस बात पर करें? छल कपट इन्हीं परतत्त्वों के लाभ के लिए ही तो लोग किया करते हैं। जिन्होंने सीधा साफ स्पष्ट ज्ञायकस्वभावी निज आनन्दघन अन्त:प्रभु का दर्शन किया है, अब उससे बढ़कर लाभ क्या है? वे माया से रहित हैं। ऐसे सरल, निश्छल, निर्भय योगीश्वर किस बुद्धिमान के स्तवन के योग्य नहीं हैं? ये योगीश्वर लोभकषाय से बिल्कुल दूर हैं, इन्हें अपने लिए कुछ भी न चाहिये। केवल दातार के यहाँ जब कोई क्षुधा वेदना से तीव्र पीड़ा होती है तो जीवन रखने के लिए आहार कर आते हैं और उसके बजाय कितने लोगों को ये योगीश्वर दान किया करते हैं। जिनके दर्शन से ही जीव तिर जायें, जिनके उपदेश से जीव तिर जायें। कितने लोगों का उपकार होता है? वे योगीश्वर लोभकषाय से रहित हैं। तो जो केवल एक ज्ञानस्वरूप की आराधना में ही लगे हैं, जो किसी भी परतत्त्व से अपना हित नहीं समझते, ऐसे स्पष्ट ज्ञाता निर्लेप वीततृष्ण योगीश्वर किसके स्तवन के योग्य नहीं हैं?

सत्यता की मूर्ति- योगीश्वर सत्य की मूर्ति है। जो सच है सो यह है। उनका रूप निर्ग्रन्थ है, शल्यों से रहित है वह मुद्रा समस्त भव्य जीवों को अभय प्रदान करती है। जिन योगीश्वरों का निरखकर कोई भी भय नहीं खाता है। जिनके हाथ में केवल दया के साधनभूत थोंडे से मयूरपंख हैं। बहुत पंख रखने का रिवाज न जाने कब से चला। थोंडे से ही पंख रखना जीव दया के लिए काफी है। सो जिनके पास थोंडे से मयूरपंख हैं, जो अति कोमल होने से रखे गए हैं, जो आसानी से मिल

जाते हैं, अपने आप ये मोरपंख छोड़ देते हैं, जिसमें किसी तरह का आरम्भ नहीं, दोष नहीं जो अति कोमल हों, सो भी 10-20 पंखा करते हैं और शुद्धि के लिए कोई कमण्डल जिस किसी भी रंग का हो, ये दो उन योगियों के उपकरण हैं। ऐसे दयामूर्ति योगी पुरूषों को देखकर भला किसे भय उत्पन्न होगा? बल्कि भयभीत पुरुष भी ऐसे योगियों को देखकर निर्भय हो जाते हैं।

संयम तप त्याग आकिन्चन्य व ब्रह्मचर्य का योग- योगीश्वर शुद्धता की मूर्ति हैं और इसी कारण जिनमें संयम विशेष प्रकट है, प्राणियों की रक्षा में सावधान हैं, अपने इन्द्रिय और मन के विषयों को जीतने वाले हैं, ऐसे विजयी योगीश्वर भला किसके द्वारा वंदनीय नहीं हैं? जो इच्छाओं से रहित हैं इसी कारण बडे-बडे दुर्धर तपों में भी जो रंच भी खेद नहीं मानते हैं, जिन्होंने सर्वस्व त्याग दिया है, जो रागादिक विभावों से भी उपेक्षा रखते हैं अन्तरंग के परिग्रहों से भी जिनकी निवृत्ति हो गयी है, केवल ज्ञानस्वरूप अपने अन्तस्तत्त्व की उपासना में रत रहा करते हैं, जिन्होंने जाना कि मानव जीवन केवल अन्तस्तत्त्व भगवान आत्मा की उपासना में ही सफल है ऐसे योगीश्वर भला किसके द्वारा वंदनीय नहीं है? जो योगीश्वर सदा आकिन्चन्यभावना भाते रहते हैं- मेरा दुनिया में कुछ नहीं, मेरा तो यह शरीर ही नहीं, यहाँ तक कि ये मुझमें ही उठने वाले रागद्वेष विकल्पादिक भाव भी मेरे नहीं हैं। एक तो निज ज्ञायकस्वरूप है उसके सिवाय अन्य कुछ भी तत्त्व अपना नहीं मानते। ऐसे आकिन्चन्य की मूर्ति हैं और इस ही बल पर जो अपने ब्रह्म में, अपने आत्मस्वरूप में लीन रहा करते हैं ऐसे परम ब्रह्मचर्य की मूर्ति हैं, यों ये आकिन्चन्य और ब्रह्मचर्य की स्पष्ट मुद्रा रखने वाले योगीश्वर क्या बुद्धिमानों के द्वारा स्तवन के योग्य नहीं हैं? ऐसे अनेक गुणों के धारी योगीश्वरों की मैं स्तुति करता हूं।

योगियों की वास्तविक अनगारता- ये पुरुष अनगार हैं। अंगार का अर्थ है घर। घर से वे रहित है। घर का उन्होंने परित्याग कर दिया है। घर का त्याग करके भी घररहित कोई कहलाये यह तो नियम नहीं बनता, किन्तु अन्तरंग में घर भी जिन्होंने त्याग दिया, अर्थात् विकल्पों में जो घर बना रखा था उस विकल्प का भी जिन्होंने परित्याग कर दिया वे पुरुष कहलाते है अनगार। मोक्ष का मार्ग सरल भी बहुत है और कठिन भी बहुत है। जिनको ज्ञानयोग का अभ्यास नहीं है वे कहते हैं कि योगी बनना आसान नहीं है। इसमें बड़े कष्ट सकने पड़ते हैं, लेकिन जिन्हें तत्त्वज्ञान है, जिनको तत्त्वज्ञान की अधिक रुचि प्रकट हो गयी है उनको तो आनन्द बरसता है, कष्ट कहाँ है वहाँ? जो सच्चे मायने में अनगार हो गये हैं ऐसे अनगार योगीश्वरों की मैं स्तुति करता हूं।

योगिभक्ति में भक्त की विशुद्धता व नम्रता- भक्त कह रहा है, योगी ही कह रहा है योगियों की भक्ति में अथवा जो भी भक्ति करता हो वह कह रहा है योगियों की ही भक्ति में। यह मैं अंजुली को मुतलित करके योगीश्वरों का स्तवन करता हूं। वस्तुत: इतनी तीव्र भक्ति उस पुरुष के ही बन सकती है जिसने अपना हृदय निर्मल बनाया हो, जो अपने मोक्ष की उन्नति चाहता हो। संसार में जिसके कोई कामना न रही हो, ऐसे ही पुरुष योगियों की वास्तविक भक्ति कर सकते हैं। जिनके धन की चाह है और उस चाह में योगियों की भक्ति करने जाते हैं तो न तो वहाँ भक्ति बनती है, न मुद्रा बनती है, न शान्ति टपकती है। भक्ति में अपने आपको स्मरण कर लिया जाता है- वह कहलाती है सभक्ति। तो योगीश्वरों को अपने आपका समर्पण कर देवे कोई, यह बात धन की चाह रखने वालों से नहीं बन सकती। पुत्र मित्र आदिक अन्य चाहों में नहीं बन सकती है। जिनके संसार, शरीर, भोगों में वैराग्य जगा है ऐसे पुरुष ही योगियों की विशुद्ध भक्ति कर सकते हैं। तो भक्ति में अंजुली जोड़कर मस्तक को निकट ले जाकर गद्‌गद हृदय से गद्‌गद वाणी से अपने आपको सर्वस्व का समर्पण करते हुए भक्त कह रहा है कि गुणधारी अनागार योगियों का मैं स्तवन करता हूं।

भक्ति में सर्ववैभवों से आत्मसमर्पण- योगभक्ति करने वाला यह है कैसा भक्त ! जो अपने समस्त वैभवों के द्वारा जिनका अभिनन्दन कर रहा हो, भक्त के पास जो कुछ भी वैभव है उस समस्त वैभव को न्यौछावर करके वह वंदन कर रहा है। तन का वैभव, समस्त शरीर को अपना कुछ अन्य विषय की दुनिया के लिए न जानकर एक भक्ति में ही अपने आपके शरीर को न्यौछावर कर रहा है, स्मरण कर रहा है, भीड़ करके एक भक्ति के साथ योगिचरणों में गिर रहा है। जिनका मन भी न्यौछावर है। मन किसी जगह अन्यत्र नहीं टिक रहा, किसी से प्रेम नहीं है, किसी का विकल्प नहीं है वे अन्य सब कुछ हेय समझते हैं ऐसा जिनका विश्वास हो गया है, ऐसी श्रद्धापूर्वक ऐसे श्रद्धालु योगी अपने इस मन वैभव के द्वारा वंदन करते हैं। तीसरा वैभव है जीव के पास वचन। सो वचनवैभव के द्वारा भी यह वन्दन चल रहा है। जिनके गुणों के स्तवन के वचन चल रहे हैं ऐसे तन, मन, धन, वचन जिनके पास जो वैभव है, योगियों के पास तन, मन, वचन का जो भी वैभव है, उन समस्त वैभवों के द्वारा अभिवन्दन करते हैं। यह मैं भी ऐसे गुणधारी अनगारी योगियों की स्तुति करता हूं।

श्लोक 2

सम्मचेव य भावे मिच्छाभावे तहेव बोधव्वा।

चइऊण मिच्छाभावं सम्मम्हि उवट्ठिदे वंदे।।2।।

मिथ्यान्धकार का रूप- भाव दो प्रकार के होते हैं एक सम्यक्त्व भाव, दूसरा मिथ्यात्वभाव। जीवों को अपने आनन्द का धाम, अपना वास्तविक शरण अपना सर्वस्व जो एक सहज ज्ञायकस्वरूप है, शुद्ध आनन्दमूर्ति है वह भगवान आत्मा नहीं नजर में रहता है तो अन्त:प्रभु का उन्हें दर्शन नहीं होता। जो पुरुष अहंकार, ममकार, कर्तृत्व, भोक्तृत्वबुद्धि- इन चार अंधेरों में पड़े हुए हैं उन्हें अपने आपके ही निकट विराजमान अथवा स्वयं ही यह अन्त:प्रभु है, इसके दर्शन नहीं हो पाते। जैसे जब कभी घोर अंधियारा हो, बहुत कठिन अंधकार से पूर्ण रात्रि हो उस रात्रि में अपने ही हाथ अपने को नहीं दिखते। यदि हाथ में खुजाहट हो गयी तो खुजाने के लिए अंधे की भाँति हाथ को टटोलकर पाते हैं, अपने ही शरीर के अंग अपने को नहीं दिखते हैं। ऐसा घोर अंधकार। तो अज्ञान अंधकार उससे भी अधिक घोर अंधकार है। यह खुद ही क्या है, सो अपने आपको स्वयं नहीं जान पाता है। विकल्पों में यह कितना दूर हो चुका है? खुद है प्रभु किन्तु खुद की प्रभुता का पता नहीं है और कहाँ कहाँ शरण ढूँढ रहा है? स्त्री, पुत्र, मित्र, परिजन ये ही मेरे सर्वस्व हैं जिनके कारण दु:ख भोग रहे हैं और सम्पर्क से अपना जीवन बरबाद कर रहे हैं। जो कहीं भी हितरूप नहीं हैं उनकी ओर अतितीव्र मोह बुद्धि है, आदेय बुद्धि है। अजी उनके लिए ही मेरा सब शरीर है, इन परिजनों के लिए ही तन, मन, धन, वचन आदिक हैं, ऐसी जिनकी बुद्धि है उन्हें अपने आपमें बसे हुए अन्त:प्रभु के दर्शन नहीं होते। ऐसे घोर अंधकार का नाम है मिथ्याभाव।

परिकरसमागम की व्यर्थता- अच्छा, देखो भैया ! आप इन परिजनों का क्या करेंगे? ये कहां तक मदद देंगे? ये क्या अब भी कुछ शान्ति के मददगार हो रहे हैं? इस वैभव का क्या करेंगे? ये कुछ मदद न देंगे, कुछ भी ये शान्ति में मदद नहीं दे रहे हैं। ये कोई भी वैभव आगे साथ में ले जाये जा सकते हैं क्या? कौनसा कार्य ऐसा है फिर बतावो कि जिससे आप कुछ लाभ पायेंगे? इस मायामयी असार दुनिया में अपना नाम फैलाकर आप क्या करेंगे? जिन लोगों के लिए आप अपने जीवन को बरबाद कर रहे हैं, वे कुछ आपके मददगार होंगे क्या? उनके विकल्प रखकर तो इस समय भी शान्ति नहीं पायी जा रही है। किसका सहारा लेना है? ये जितनी भी पर की ओर दृष्टियां जाती हैं, विकल्प बनते हैं, ये सब घोर अंधकार हैं। इतना घोर अंधकार कि यह खुद ही खुद को नहीं जान पा रहा है कि मैं क्या हूं? इससे बढ़कर और दयनीय दशा क्या होगी? लोग तो कुछ अच्छे धन वैभव स्त्री पुत्रादिक पाकर मद में आकर सही ढंग से चलते भी नहीं हैं। मद में छाती फुलाकर चलते हैं। अपने आगे किसी को कुछ समझते ही नहीं हैं। पर उन्हें यह पता नहीं कि दौलत के दो लातें

हैं। दौलत कहते ही उसे हैं जिसके दो लातें हो। तो जब यह दौलत आती है तो मानो छाती में लात मारती है, जिससे यह मानव छाती फुलाकर चलने लगता है। और जब यह दौलत जाती है तो मानो पीठ में लात मारकर जाती है जिससे सर झुक जाता है। शरम के मारे वह मानव नीची निगाह किए रहता है। फिर इस जीवन में उसे इस दुनिया में अच्छा नहीं लगता। उसके पीछे इतनी दौड़धूप करने से क्या लाभ? जो खुद मलिन हैं, कर्मप्रेरित हैं ऐसे परिजन, मित्रजनों के लिए इतनी दौड़धूप से क्या लाभ?

मिथ्याभाव के चार रूप- अहोखुदका आत्मानजर न आने से उस अन्त:स्वरूप की दृष्टि बिना यह जीव संकटों से छूट नहीं सकता है। यह अनहं में अहं बुद्धि रखता है। जो अहं नहीं है, जो मैं नहीं है उसमें बुद्धि रखता है कि यह मैं हूं- इसका नाम है अहंकार। ये सब अहंकार हैं। बाह्यवस्तुवों में ममकार बुद्धि जगे, इसका नाम ममकार है। बाह्यपदार्थों के सम्बंध में करने की बुद्धि आये, मैं इसे करता हूं- यह है कर्तृत्व बुद्धि। और इन बाह्यविषयों में, इन बाह्यपदार्थों में भोगने की बुद्धि जगे इसका नाम है भोक्तृत्व। इन चार प्रकार के खोटे आशयों में रहने वाले प्राणी घोर अंधकार में दु:खी हो रहे हैं। यही है मिथ्याभाव। और जिनका यह विपरीत आशय नहीं रहता है वह है सम्यक्त्वभाव।

सम्यक्त्वभाव- ये परपदार्थ, ये रागादिक परतत्त्व, यह शरीर, ये मेरे कुछ नहीं हैं। मैं रागादिक रूप नहीं हूं, कषायरूप नहीं हूं, इच्छारूप नहीं हूं, मैं स्वतंत्र हूं, जो मेरा स्वरूप है वह मेरे अधीन है। मेरी परिणति, मेरा चतुष्टय, मेरा स्वरूप, मेरा सर्वस्व सब मेरे ही अधीन है। मैं निश्चला हूं। जो मेरा स्वरूप है चैतन्यमात्र, उससे मैं कभी चलायमान नहीं होता हूं। जिस स्वरूप से मैं रचा गया हूं उस स्वरूप रूप ही हूं, जिसमें रंचमात्र भी कामना नहीं है, विकार नहीं है। स्वरूपदृष्टि से देखो तो यह केवल ज्ञानप्रकाशमात्र है। यह निष्काम है, इससे किसी प्रकार की कामना नहीं है। ऐसा केवल जाननदेखनहार मैं भगवान आत्मा हूं। इस प्रकार का निर्णय जहाँ रहता है, ऐसे ही निजतत्त्व का दर्शन होता है उसे कहते हैं सम्यक्त्वभाव। तो ये योगीश्वर मिथ्याभाव को त्यागकर सम्यक्त्वभाव में आ चुके हैं, ऐसे सम्यक्त्वरूप सत्यमूर्ति योगीश्वर की मैं वन्दना करता हूं।

श्लोक 3

दोदोसविप्पमुक्के तिदंऽविरदे तिसल्लपरिसुद्धे।

तिण्णियगारवरहिये तियरणसुद्धे णमसामि।।3।।

योगियों की द्विदोषविमुक्तता- जो दो दोषों रहित हैं ऐसे योगीश्वरों को मन, वचन, काय संभाल करके नमस्कार करता हूं। दोष दो हैं- राग और द्वेष। राग में यह जीव अपने स्वरूप से हटकर बाहरीपदार्थों के विकल्पों में लग जाता है। यह आत्मा के लिए दोष की बात है। यह अपराध है। अपराध कहते हैं उसे जहाँ राध अवगत हो गया हो। जहाँ राध अर्थात् शुद्ध जानना समाप्त हो गया है उसे कहते हैं अपराध। तो जहाँ जीव राग करता है वहाँ आत्मसिद्धि नहीं है, इस कारण राग दोष कहलाता है। इसी प्रकार द्वेष भी दोष कहलाता है। द्वेष होता है तब, जब किसी बाह्य पदार्थ को अपना अनिष्ट समझ लिया जाय। तब उसके विनाश के लिए, उसके दूर करने के लिए मन में चिन्तन चलता है और जब वह दूर नहीं होता तो उसके प्रति दुर्भावना चलती है। तो इस द्वेषभाव में भी यह जीव अपनी सिद्धि से अलग हो गया। इस कारण इसका भी नाम दोष है। ऐसे जो दो दोषों से रहित हैं उन योगीश्वरों की यहाँ भक्ति की जा रही है।

योगियों की त्रिदण्डवर्जितता- ये योगीश्वर तीन दण्डों से रहित हैं। मन, वचन, काय, इन तीनों योगों की प्रवृत्ति का नाम दण्ड है। आत्मा को दण्ड मिल रहा है इन मन, वचन, काय की चेष्टाओं से। मन प्रवृत्ति करता है, विषय कषायों को धारण कर लेता है। न जाने किन-किन वस्तुवों में अपना मन लगाता है, विकल्प करता है, हैरानी भोगता है। तो मन का यह व्यापार आत्मा के लिए दण्ड है, आत्मा पर आपत्ति है। इसी प्रकार वचन योग है। वचनों की अधिक प्रवृत्ति रखना, अधिक बोलना- ये सब किसलिए हो रहे हैं? जो अधिक बोलते हैं, बिना प्रयोजन बोलते हैं, उसका सीधा अर्थ यही है कि वे अपने में गम्भीर नहीं हैं, अपने आपकी विशद्ध दृष्टि रखते नहीं है तब अधिक बोलते हैं। तो अधिक बोलना भी आत्मा के लिए दण्ड है। तीसरा दण्ड है कायदण्ड। शरीर की चेष्टा करना, शरीर क्या मैं हूं? शरीर तो भिन्न पदार्थ है, अशुचि पदार्थ है। यह शरीर हाड़ मांस का पुतला है। लेकिन इस काय की प्रवृत्ति सुहाना और राग कर करके काय की नाना चेष्टायें करना, यह तो आत्मा पर आपत्ति है। इन दण्डों का त्याग करना होगा तब आत्मा सुरक्षित रह सकता है। तो इन योगीश्वरों ने मन, वचन, काय इन तीन दण्डों का परिहार कर दिया, उससे ये विरक्त हैं। इन योगीश्वरों को सभक्ति प्रणाम हो।

योगियों की मायासल्यरहितता- यह योगीश्वर तीन शल्यों से रहित हैं। शल्य उसे कहते हैं जो मन में चुभे। जैसे काँटा पैर में लगे तो वह शल्य का काम करता है। तो जो काँटे की भाँति चुभता रहे उसे शल्य कहते हैं। एक दु:ख ऐसा होता है कि एक बार हो गया चलो निपट गए, मगर शल्य वाला दु:ख तो निरन्तर रह रहकर आता रहता है। ऐसे शल्य हैं तीन माया, मिथ्या और निदान। छल कपट करना एक बहुत बड़ी शल्य हैं। छलीपुरुष, कपट रखने वाला पुरुष चैन में नहीं रहता। वह

किसी प्रकार की कल्पनायें बनाता है, मैं अमुक को यों कहूंगा, और उसके खिलाफ अमुक को यों कहूंगा। एक दूसरे के खिलाफ परस्पर में कुछ से कुछ कह देना, ऐसी प्रवृत्ति रखने वाले लोग बड़ी हैरानी में रहते हैं। उन्होंने अपने मन को हैरानी में डाल दिया है। निरन्तर चिंतित रहते हैं और ऐसी दुर्भावना बनाये रहते हैं कि ये दोनों कहीं आपस में मिल न जायें, नहीं तो हमारी पोलपट्टी खुलेगी, जो जो हमने इनकी चुगली है की ये सब जो गल्तियां हैं वे सब खुल जायेंगी। मायाचारी पुरुष निरन्तर शल्य में बने रहते हैं। लोग व्यर्थ की शल्य बना लेते हैं। मायाचार से मिलता क्या है? कदाचित मायाचार करने से कुछ द्रव्य का लाभ हो गया तो वह लाभ क्या लाभ है? उन्हें यह विश्वास नहीं कि जो लाभ होना है वह तो होता है मगर खोटे भाव करके हमने तो अपनी दुर्गति कर ली, पापबंध कर लिया और लाभ में कमी ही कर लिया। शुद्ध भावों में रहते तो जितना लाभ होने को था वह पूरा लाभ होता, मायाचार से सिद्धि कुछ नहीं है। लेकिन जिनका चित्त मलिन है वे मायाचार करके अपनी स्वार्थसिद्धि समझते हैं। योगीश्वरों में मायाशल्य रंचमात्र नहीं है। किसलिये माया करना? आत्मसाधना के लिए समस्त परिग्रहों का त्याग करके एक आत्मा का सहारा लिया है। आत्मा की उपासना करके अपने आपमें प्रसन्न रहने का, निर्मल होने का संकल्प किया है। वहाँ मायाचार का क्या काम? कोई बाह्य परिग्रह तो रखा नहीं है। फिर किसी भी जीव के प्रति, किसी भी साथी के प्रति छलकपट करने का वहां अवसर कहां? यदि कोई साधु छल कपट कर रहा है तो वह बाह्य वस्तु पर तो नहीं कर सकता, क्योंकि वस्तुवों को अगर निकट रखेंगे तो लोग प्रत्यक्ष जान जायेंगे। बाह्यपरिग्रहों पर तो मायाचार करने का वहाँ अवसर नहीं है। हाँ अपनी नामवरी फैलाने की इच्छा हो जाय, उसके लिए मायाचार किया जा सकता है। सो जिस पुरुष के कोई कलुषित इच्छा हो जाय वह साधु कैसा? वास्तविक मायने में जो साधु है उस साधु पुरुष को मायाचार का अवसर नहीं मिलता। योगीश्वर मायाशल्य से रहित हैं।

योगियों की मिथ्याशल्यरहितता- दूसरी शल्य है मिथ्याभाव। किसी ग्रन्थ के किसी वाक्य का किसी परिस्थिति में कुछ थोड़ासा विपरीत अर्थ कर जाना, ऐसी कुछ सीमा के अन्दर जो जो कुछ मिथ्याभाव, मिथ्यावचन व्यवहार कर लिए जाते हैं वे सब इसके लिए शल्य बन जाते हैं। जो योगी निस्पृह हैं, किसी प्रकार का चित्त में स्वार्थ नहीं रखते हैं, जिन्होंने तत्त्वज्ञान विशदरूप से प्राप्त कर लिया है ऐसे योगियों को कोई मिथ्यावचन कहने का प्रयोजन ही नहीं रहता। शास्त्रों का कुछ से कुछ अर्थ लगाना, कुछ मिथ्यारूप में ढालना, यह तो स्वार्थी और तृष्णावी लोभी पुरुषों से ही बन सकता है। योगी तो निर्लोभता की साक्षात् मूर्ति हैं, उनमें मिथ्याभाव कहाँ से आ सकता है? और जो मोटे मिथ्याभाव हैं ये तो उनमें सम्भव ही नहीं हैं। वे निज ज्ञायकस्वरूप को ही 'यह मैं हूं' ऐसा अनुभव किया करते हैं। उनके मिथ्यादर्शन कहाँ? तो योगीश्वर मिथ्याशल्य से भी रहित होते हैं।

योगियों की निदानशल्यरहितता- तीसरी शल्य है निदान। बाह्यपदार्थों की आशा रखना, परभाव के लिए आशा करे उसे भी निदान कहते हैं, और इस जीवन के लिए भी आशा रखे उसे भी निदान कहते हैं। मुझे ऐसे आरामों की प्राप्ति हो, तेसा सम्मान प्राप्त हो, परभव में मैं देव इन्द्रादिक पद पाऊँ, यों अनेक प्रकार की आशायें करने को निदान कहते हैं। योगीश्वरों के न तो परभव सम्बन्धी निदान है और न इहलोक सम्बन्धी निदान है, उन्होंने तो समस्त आशावों पर विजय प्राप्त कर ली है, वे लोक में कुछ भी नहीं चाहते और चाहते हैं तो यही चाहते है कि मेरे चाह बिल्कुल ही पैदा न हो। और मैं अपने निष्काम ज्ञानस्वरूप में निरन्तर लीन रहा करूँ। ऐसे पुरुषों में निदान का दोष कहाँ सम्भव है? तो योगीश्वर तीन शल्यों से रहित हैं।

योगियों की रसगारवरहितता- ये योगीश्वर तीन गारवों से भी रहित है। गारव कहते हैं अभिमान को। गारव तीन तरह के हैं- रसगारव, ऋद्धिगारव, सातगारव। किसी योगी की ख्याति हैं, लोग बहुत चाहते हैं, किसी कारण विशेष आदर करते हैं, आहार भी बहुत सरस बनाते हैं और वे योगी ऐसे सरस भोजन को करके चित्त में ऐसा अहंकार रखें कि मेरी ऐसी अच्छी पोजीशन है। देख लो कितनी भक्ति से कितने सरस व्यन्जन बनाकर आहार देते हैं। साथ ही अन्य योगीश्वरों पर भी थोडी़ दृष्टि करते हैं, उनकी अपेक्षा हमारी बड़ी महत्ता है, इस प्रकार का कोई सूक्ष्मभाव आये तो उसे रसगारव कहते हैं। यह तो बहुत खोटा भाव है, पर इस सम्बंध में कोई सूक्ष्मभाव भी बने तो योगी का योग नहीं रहता है। ये योगी रसगारव दोष से रहित हैं।

योगियों की ऋद्धिगारवरहितता- दूसरा गारव है ऋद्धिगारव। तपश्चरण के प्रताप से किसी प्रकार की ऋद्धि प्रकट हो जाय। ऋद्धि अनेक प्रकार की हैं- आकाश में विहार करना, अपने शरीर की कुछ विक्रिया बना लेना, छोटा बड़ा अपना रूप कर लेना, बहुत-बहुत प्रकार से ज्ञान विकसित होना आदि अनेक प्रकार की ऋद्धियां होती हैं। ये पुरुष ऋद्धिगारव से रहित हैं, इन्हें ऋद्धियों पर गर्व नहीं रहता, बड़े कठोर तपश्चरण के प्रताप से ऐसी भी ऋद्धियाँ होती हैं जो लोक में चमत्कार फैला देती हैं। जैसे- शरीर का मल औषधि बन जाय, शरीर से स्पर्श करती हुई वायु जिस रोगी को छू ले वह रोगी निरोग हो जाय। जिस रसोईघर में आहार कर लें उस रसोई में कितना ही जनसमुदाय भोजन कर ले तो आहार समाप्त न हो, ऐसी अनेक ऋद्धियां प्रकट हो जाती हैं, लेकिन योगियों को उन ऋद्धियों पर गर्व नहीं रहता। वे ऋद्धिगारवदोष से रहित होते हैं।

योगियों की सातगारवरहितता- तीसरा गारव है सातगारव। भक्तजनों से बड़ी साता मिलती हो, बड़े अच्छे ढंग से आसन मिलता है, बड़े आदर से जिन्हें रखा जाता है, भक्त लोगों की आँखों पर जो बिछे रहते हैं, ऐसी बड़ी साता में रहने वाले मुनि जिनकी अनेक शिष्य लोग बड़ी सेवा करते

हैं। भक्त जनों की सेवा भी जिन्हें बहुत प्रकार प्राप्त होती है, ऐसी साता प्राप्त करके, सेवा प्राप्त करके इन ऋषिश्वरों को गर्व नहीं होता है कि देखो मेरी कितनी महत्ता है। लोग मुझे कितना महान् समझते हैं, अपनी महिमा पर गर्व नहीं होता है, वे सातागारव के दोष से रहित हैं। ऐसे इन तीन गारवों से रहित योगीश्वरों को मन, वचन, काय की शुद्धि से नमस्कार करता हूं।

योगियों को मन:शुद्धिपूर्वक प्रणमन- मन की शुद्धि तो यह है कि किसी प्रकार की इच्छा करके उन योगियों की सेवा वन्दना न हो। केवल इस चाह से योगियों की निकटता बनायी जाय कि मैं भी मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों से, कषाय की प्रवृत्तियों से दूर होकर सहज स्वाधीन आत्मीय आनन्दरस का पान करूँ। जैसे कि योगीश्वर निरन्तर आत्मरस में तृप्त रहा करते हैं, ऐसी भावना होती है तो उस मन को शुद्धमन कहा जाता है। लोक में बड़ाई पाने के लिए उन साधुवों में अपनी महिमा जताने के लिए अथवा अपनी इज्जत पाने के लिए, लोग बड़ाई करें कि कैसे ये गुरुभक्त हैं, ऐसा भाव यदि मन में है और सेवा भी कर रहे तो वह सेवा उनकी व्यर्थ जाती है, अर्थात् स्वयं ने तो पुण्यलाभ नहीं लिया उनका मन अशुद्ध कहलाता है।

योगियों को वचनशुद्धिपूर्वक प्रणमन- वचनशुद्धि क्या? वास्तव में तो जिनका मन पवित्र होता है उनसे ही शुद्ध वचन बोले जा सकते हैं। एक कवि ने कहा- ''मन महीपके आचरन दृग दीवान कहि देत'' मनरूपी राजा के जो आचरण हैं, मन में मलिनता, शुद्धि आदिक जो जो भी भाव आते हैं उन सब भावों को ये नेत्ररूपी मंत्री कह देते हैं। जैसे राजा किस प्रकृति का है? यह बात मंत्रियों के चाल-चलन में विदित हो जाती है। इसी प्रकार ये नेत्र, ये मन के आचरण बता देते हैं और उन नेत्रों से अधिक बताने वाले ये वचन हैं। ये वचन पुरुष के हृदय की बात बता देते हैं। उसमें कितनी कषाय है, कितनी उदारता है, कितनी मूढ़ता है, ये बातें ये वचन कह देते हैं। तो जिनका मन पवित्र है उनके वचन भी पवित्र निकलते हैं। ऐसे वचन पवित्र निकलते कि जिन वचनों को सुनकर सुनने वाले प्रबोध को प्राप्त हों। और अपने क्लेशों को भूलकर शान्ति में प्रवृत्ति करे। ऐसे वचनों को शुद्ध वचन कहते हैं। बहुत ही शुद्धभाव भरे वचनों से योगीश्वरों को नमस्कार करता हूं।

योगियों को कायशुद्धिपूर्वक प्रणमन- तीसरी है कायशुद्धि।शरीर को बड़े विनय से प्रवर्ताना और बड़ी सावधानी से इस शरीर चेष्टा से गुरुजनों की सेवा करना यह कायशुद्धि कहलाता है। यथातथा पापों में लगने वालों की कायशुद्धि नहीं कहलाती है। काय की शुद्धि निष्पापता से कही जाती है। निर्विचिकित्सा अंग में साधुवों के शरीर को रत्नत्रय से पवित्र कहा गया है। श्रावक और भक्तजन मुनिजन, मुनियों की सेवा करते हुए ग्लानि का भाव नहीं रखना है, यह उनके अनुराग की सूचना है। जैसे मां अपने बच्चे की सेवा हर परिस्थिति में करती है। दस्त हो रहे हों, नाक बह रही हो,

कैसे भी रोग की स्थिति हो पर बच्चे का प्रेम मां के हृदय से इतना अधिक है कि बच्चे से घृणा नहीं करती। इसी प्रकार धर्मी पुरूषों का साधर्मी पुरुषों से इतना अनुराग होता है, साधर्मी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण को निरखकर उनकी उदारता और विशुद्धि को निरखकर बड़े प्रसन्न होते हैं और बिना संकोच व बिना घृणा के उनकी सेवा करते हैं तो काय की शुद्धि निष्पाप होने से होती है। कहते भी हैं- ब्रह्मचारी सदा शुचि:। जो पुरुष ब्रह्मचारी है वह तो सदा पवित्र है। काय को यदि एक स्नान से पवित्र कर लिया तो उससे आत्मा में कौन-सा लाभ हो गया ? यद्यपि शरीर को पवित्र करके, प्रभुभजन प्रभुपूजन करने में एक अतिशय आता है यही प्रभुविनय है और अपने को कुछ निर्भार और कुछ विशुद्ध अविकारी बनाया है, उससे लाभ होता है लेकिन भीतरी बात को कोई सोचे नहीं और केवल शरीर की शुद्धि करके मान ले कि मैं पवित्र हो गया हूं, ठीक हूं तो ऐसा पुरुष शान्ति तो क्या पायगा बल्कि इसी शुद्धि छुवाछूत के परिणाम में जरा जरा से प्रसंग में क्रोध करने लगता है। तो काय की मुख्य शुद्धि तो निष्पाप रहने से है और व्यवहार से काय की शुद्धि है, जैसी व्यवहारिक शुद्धि है उस प्रकार। तो भक्त कहता है कि मैं मन, वचन, काय को शुद्ध करके ऐसे योगीश्वर को नमस्कार करता हूं।

श्लोक 4

चउविहकसायडहणे चउगइसंसारगमणभयभीए।

पञ्चसवपिऽविरदे पंचिंदियणिज्ञिदे वंदे।।4।।

योग में चतुर्विधकषायदहन- यह पूर्वाचार्यों से चली आयी हुई योगभक्ति है। बहुत पुराने पूजन, पुराने स्तवन पहिले ऐसे ही थे और इसी के आधार पर भक्तजन अपनी आत्मशुद्धि करते थे। उस योगभक्ति में यहाँ कह रहे हैं कि ये योगी पुरुष चार प्रकार की कषायों को दहन करते हैं, नष्ट करते हैं। कषायें चार हैं- क्रोध, मान, माया, लोभ। जितने भी विकल्प हैं, जितनी भी प्रवृत्तियां हैं वे सब इन चारों में शामिल हैं। कोई क्रोधरूप वृत्ति है, कोई मानरूप, कोई मायारूप और कोई लोभरूप। सारी बातें दुःख लो। जहां यह कहते हैं कि आतम के अहित विषय और कषाय हैं तो ये विषय कषाय से अलग कोई चीज नहीं हैं। दो का नाम जरूरी है कि विषय कषाय का त्याग करना चाहिये। किन्तु विषय बिल्कुल अलग चीज होती हो कषाय से, ऐसा नहीं है। लोभ नामक जो चौथी कषाय है उस ही कषाय को विषय कहते हैं। विषय में लोभ ही तो होता है। पन्चेन्द्रिय के विषयों के जो उपभोग हो रहे हैं वे लोभ कषाय में शामिल हैं। लेकिन यह परिणाम इतना खतरनाक है चूँकि अनुराग भरा है ना तो यह एक विषफल के समान घातक है। जैसे चखते समय विषफल मीठा

लगता है लेकिन उसका परिणाम प्राणघातक है, इसी प्रकार इन विषयों का उपभोग है। ये कषाय उपभोग तो बड़े मधुर लगते हैं लेकिन इनका परिणाम खोटा है। तो ये विषय लोभ में ही शामिल हैं। तो जिन साधुजनों ने इन चार प्रकार की कषायों पर विजय किया है ऐसे योगियों की मैं वंदना करता हूं।

योगियों की चतुर्गतिगमनागमनभयभीतता- इन योगियों ने चारगति के संसार के गमनागमन से भय माना है। ये अज्ञानी जीव बड़े सुभट हैं क्योंकि ये संसार के गमनागमन से भय नहीं खाते, पर ये योगीजन इस संसार के परिभ्रमण से डरते हैं। उनके चित्त में यह भावना है कि यह संसार का आवागमन, जन्म मरण धारण करते रहना यह सारहीन है और आत्मा की बरबादी के ही कारण हैं। तो यों चतुर्गति परिभ्रमण रंचमात्र भी इन योगियों को रुचता नहीं है। वे अपने स्वभाव को निरखते हैं और स्वभाव के दर्शन अनुभव के समय में वहां एक परमात्मस्वरूप ही अनुभूत होता है। वहां भव नहीं, देह नहीं, जन्ममरण नहीं- ऐसा उपयोग यदि निरन्तर बना रहे तो सर्वकर्मों का क्षय करने का कारण बनता है। योगीश्वर चार गति के संसार गमनागमन से भयभीत हैं।

योगियों की पन्चास्रवविरतता- ये योगी 5 प्रकार के आस्रवों से विरक्त हैं- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह। इन 5 पापों से अत्यन्त दूर हैं। इनकी मुद्रा भी ऐसी है कि 5 पापों का परिहार इनके सहज चलता रहता है। हिंसा का कोई साधन नहीं, झूठ बोलने का उनके पास कोई कारण नहीं कोई परिग्रह हो, धन जायदाद हो, उसकी व्यवस्था हो, तो उसमें झूठ भी बोला जाय। चोरी करने का कोई साधन नहीं। कुछ चीज चुरा भी लें तो कहां छिपाकर रखें। पिछी, कमण्डल ये ही मात्र जिनके उपकरण हैं और जिनका शरीर मल पटलों से लिप्त है, जिनके केशलोच करने से जिनकी मुद्रा अलौकिक बन गयी है ऐसे शरीर को निरखकर वैसे भी कोई अपने चित्त में बुरी वासना नहीं रख सकता है, परिग्रह के वे त्यागी हैं ही और ज्ञानयोग से वैराग्य उनका इतना बढ़ा चढ़ा है कि वे इन 5 पापों से अत्यन्त विरक्त रहा करते हैं। ये योगीश्वर निष्पाप हैं और इसी कारण बड़े बड़े महापुरूषों के द्वारा, देवेन्द्रों के द्वारा वंदनीय होते हैं।

योगियों का पन्चेन्द्रियविजय- इन योगियों ने पन्चेन्द्रियों को जीत लिया है। इन्द्रिय के विषय उन्हें अब वशीभूत नहीं कर सकते हैं। अपने ज्ञान उपासना के प्रताप से ऐसे अद्भुत आनन्दरस का पान किया है कि अब उन्हें इन्द्रियविषय रंच भी नहीं सुहाते हैं। येविषय एक मन की कल्पना से ही सुहावने और असुहावने लग जाते हैं। उनका असली स्वरूप निरखा जाय तो सुहाने की बात नहीं रहती है। यह शरीर ऊपर से निरखने पर थोड़ा पवित्र सा नजर आता है, कुछ साफ सुथरा सा लगता है लेकिन जब उसके स्वरूप पर विचार करते हैं तो सारा शरीर महा अपवित्र नजर आता है।

तो ऐसे इस अपवित्र शरीर से वे योगीजन राग क्या करें, जिन्होंने अपने पवित्र ज्ञानस्वरूप आत्मा का दर्शन किया है। यों ही खट्टे मीठे रसों का वे आनन्द क्या मानें, सुगंध, दुर्गन्ध का भी वे क्या निर्णय रखें, रंगरूप का भी वे क्या अवलोकन करें, राग रागिनी सुनने का भाव अब वे कैसे बनायें? वे योगीश्वर पन्चेन्द्रियविजयी होते हैं। ऐसे इन समस्त गुणधारी योगीश्वर का मैं मन, वचन, काय संभाल करके वंदन करता हूं।

श्लोक 5

छज्जीवदयावण्णे छडणायदण विवज्जिदे समिदभावे।

सत्तमयविप्पमुक्के सत्ताणभयंकरे वंदे।।5।।

योगियों की षंगकायजीवदयाप्रधानता- योगी, साधु 6 प्रकार के जीवों की दया करने में तत्पर रहते हैं। जीव 6 काय में विभक्त हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस। इनमें पहिले 5 तो एकेन्द्रिय हैं और त्रस जीव में दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पन्चेन्द्रिय ये चार तरह के जीव हैं। ये साधु महाराज षटकाय की जीवों की दया पालते हैं। योगियों ने षट्काय की हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग किया है, इससे वे अब सर्व प्रकार के आडम्बरों को भी छोड़ देते हैं। वे न घर बनाते हैं, न पृथ्वी खोदते हैं, न जल भरते हैं, न जल गरम करते हैं, न आग जलाते हैं, न पंखा चलाते हैं, न साग भाजी आदिक विदारण करते हैं। त्रस जीवों की हिंसा का तो गृहस्थ के भी त्याग रहता है, पर गृहस्थ के केवल संकल्पी हिंसा का त्याग रहता है याने गृहस्थ त्रस जीवों की संकल्प से हिंसा नहीं करता, लेकिन रोजगार करने में सावधानी रखते हुए भी जो हिंसा होती है उसको गृहस्थ कहां से टाले? या रसोई, चक्की, चूल्हे आदिक में भी जो सावधानी रखने पर भी हिंसा होती है उसका त्यागी गृहस्थ नहीं है या कोई बैरी या पशु आदिक जानवर जान लेने आया हो तो उस समय यह गृहस्थ उससे मुकाबला भी करता है और उसमें दूसरे की हिंसा भी हो जाती है। इस विरोधी हिंसा का भी त्यागी गृहस्थ नहीं हो सकता, किन्तु साधु महाराज सब प्रकार की हिंसा से विरक्त हैं। न वे रोजगार करते हैं, न आरम्भ चक्की, चूल्हा आदिक करते हैं और कोई हिंसक जीव या बैरी प्राण लेने के लिए आये तो उसका मुकाबला न करके समस्त जीवों पर दया धारण करते हैं। इन योगियों की स्वात्मदृष्टि इतनी गहरी है कि अपने ही जीव के समान समस्त जीवों को मानते है और दु:ख के सम्बन्ध में भी मानते हैं कि जिस प्रकार थोड़ासा भी कांटा चुभने पर पीड़ा हमें होती है इसी प्रकार सब जीवों में होती है और स्वरूपदृष्टि से भी समान मानते हैं। जैसा शुद्ध चैतन्यस्वरूप मेरा है ऐसा ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप इन समस्त जीवों का है। तो दोनों ही दृष्टियों से वे जीवों की दया पालते

हैं। चूँकि जिस प्रकार हमें दु:ख होता है उसी प्रकार सब जीवों को दु:ख होता है। तो दु:ख न देना चाहिये। यह तो एक साधारण दृष्टि है। इसमें सूक्ष्म दृष्टि यह भी है कि मेरे ही समान ये सब चैतन्यस्वरूप भगवान हैं। ये जीव अपनी छोटी-छोटी दशावों से निकलकर यहां कुछ अच्छी अवस्था में आये हैं। यदि मेरे कारण इन्हें पीड़ा होगी, संक्लेश परिणाम होगा तो यह जीव संक्लेश मरण करेगा, इससे यह नीची गति में जन्म लेगा और विकास से अधिक दूर हो जावेगा, यह भी उनकी आन्तरिक करुणा समझें तो ऐसी दोनों दृष्टियों से योगीश्वर समस्त जीवों पर दयाभाव धारण करते हैं।

योगियों की षडनायतनविवर्जितता- ये योगी 6 अनायतन से दुर रहते हैं। आयतन कहते हैं स्थान को। 6 धर्म के स्थान हैं। जिनमें धर्म पाया जाय उन्हें आयतन कहते हैं। देव, शास्त्र, गुरु ये धर्म के आयतन हैं और इनके मानने वाले भक्त ये धर्म के आयतन हैं क्योंकि देव स्वयं धर्मस्वरूप हैं। आत्मा का धर्म जो चैतन्य है, ज्ञानदर्शन है वह पूर्ण प्रकट हो गया है। देव धर्ममूर्ति हैं। शास्त्रों में भी इस ही धर्म का वर्णन है। तो शास्त्र भी धर्म के स्थान हैं। गुरु महाराज धर्म का प्रयोग कर रहे हैं। वे धर्म में बढ़ रहे हैं और सफल हो रहे हैं। वे भी धर्म के स्थान हैं, और उनके मानने वाले जो भक्तजन हैं वे भी धर्म के स्थान हैं। इसके विपरीत कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु ये धर्म के आयतन नहीं हैं, ये अधर्म के साधन हैं जिनमें रागद्वेष भरा है, अज्ञान भरा है फिर भी अपने को देवरूप में प्रसिद्ध करवाते हैं या उनमें देवरूप में कल्पना की जाय तो उस ही का नाम कुदेव है। जिन शास्त्रों में विषयकषाय की बातें भरी हैं, भगवान का चरित्र भी ग्रन्थों में लिखते हैं तो राग भरे चरि9 लिखते हैं। भगवान ने इतनी स्त्रियों में रमण किया। उनके साथ इतनी सखियां रहती थीं। आदिक विषयकषायों से भरा हुआ वर्णन होता है तो वे शास्त्र कुशास्त्र हैं। जिनमें राग की प्रेरणा मिले, वीतराग आत्मस्वभाव की बात न की जाय तो वे सब कुशास्त्र हैं, और इसी तरह के यदि देवशास्त्र का आधार मानकर जो संन्यास धारण करते हैं वे कुगुरु हैं। गुरु तो नहीं हैं, आरम्भ परिग्रह उनके लगा हैं, पर अपने को लोक में गुरुपने की बात कहलवा रहे हैं तो वे कुगुरु हैं। जो आत्मस्वभाव का परिचय नहीं रखते, नाना प्रकार के विडम्बित तपश्चरण करते, लोगों में अपनी महत्ता बनाने के लिए भस्म रमाना, शस्त्र रखना आदिक अनेक प्रकार के कुभेष धारण करते हैं वे सब कुगुरु हैं, और ऐसे कुदेवभक्त, कुशास्त्रभक्त और कुगुरुभक्त भी अनायतन हैं। इन 6 प्रकार के अनायतनों से ये योगिराज दूर रहा करते हैं।

संयत योगियों की इहलोकभयरहितता- इन सब योगियों के भाव संयत हैं, वे अपने मन का नियंत्रण रखते हैं, उनके विषयकषायों में प्रवृत्ति नहीं जाती है। उन्हें ऐसे अपने भीतर बसे हुए परमात्मतत्त्व

का दर्शन होता है कि मन वही बँध गया है। अब मन उनका किसी भी बाह्यविषय में रमण नहीं करता, ऐसा जिनका भाव संयत हो गया है वे योगी सच्चे योगी हैं। योगियों के 7 प्रकार का भय नहीं रहता। जब अपने स्वरूप की संभाल नहीं है तब शंकायें हुआ करती हैं। पहिला भय है कि इस लोक में मेरा कैसे गुजारा चलेगा, आगे भी यह धन रहेगा या न रहेगा, फिर मेरी जिन्दगी किस तरह होगी? इस लोक सम्बंधी नाना शंकायें करके भय बनाना यह इहलोकमय है। जिस ज्ञानी पुरुष ने अपने आत्मा को समस्त जगत से निराला तका है और यह निरखा है कि यह मैं अकेला अनादि से था, अनन्तकाल तक रहूंगा, इस मेरे का कोई दूसरा साथी नहीं है, मैं हूं ही इतना। जिसने अपना स्वरूप अन्दर में लखा है उसको ये भय कहाँ सताते? निन्दा करते हैं करें लोक में मेरा नाम नहीं है न रहे, जो भी समागम मिले हैं वे सब वियुक्त होते हैं हो जायें, कुछ भी नहीं रहता है न रहे, मैं अकेला ही सर्वत्र रहूंगा। तो फिर मैं इस लोक का भय क्या करूँ कि क्या होगा, कैसे होगा? जो पदार्थ सत् है उसका किसी न किसी ढंग में गुजारा होता ही है। यहीं मनुष्यों में जो अति हीन हैं जो भीख मांगने वाले लोग हैं उनका भी तो गुजारा चल ही रहा है। तो जो भी है सबका अपनी सत्ता के कारण गुजारा है। गुजारे की चिन्ता सम्यग्दृष्टि पुरुषों को नहीं होती, योगियों को तो होगी ही क्या? जो योगी वन में रहते हैं, आहारचर्या को किसी दिन समय पर आते हैं, अंतराय हो जाता है, आहार नहीं होता है, अनेक तरह की बातें उत्पन्न होती हैं लेकिन उन्हें रंच भी भय नहीं है। आहार मिले तो ठीक, न मिले तो ठीक। हर स्थितियों में वे प्रसन्न रहते हैं। वे अपने आपके अन्त:स्वरूप को निरखते हैं। तो योगियों को इहलोक भय नहीं रहता है।

योगियों की परलोकभयविवर्जितता- दूसरा है परलोकभय। मैं मरकर न जाने किस गति में जाऊँगा, न जाने मेरा क्या हाल होगा? इस प्रकार की चिन्ता करना परलोकभय है। यद्यपि ऐसा भय करना थोड़ा यों ठीक समझा जा सकता है कि परलोक का भय बना रहेगा तो खोटी प्रवृत्तियों से बचेगा, न्यायनीति से तो रहेगा, लेकिन परलोक का भय यदि अज्ञानता में रहता है तब तो बड़ी विह्वलता रहती है, वह सच्चे मायने में धर्म नहीं धारण कर सकेगा। परलोक क्या है? मेरा जो यह चैतन्य है यह तो आगे भी रहेगा। तो परलोक क्या रहा? यही मैं परलोक कहलाता हूं, यही मैं इहलोक कहलाता हूं और इस दृष्टि से देखो तो आत्मा का जो सत्य ज्ञानानन्दस्वरूप है वही तो आत्मा की उत्कृष्ट दुनिया है। मेरी दुनिया क्या? मेरा जो परिणाम हो सो मेरी दुनिया है। जिसको अपनी दुनिया में ही विषाद मचा हुआ है उसे बाहर भी विषाद का वातावरण दिखता है, और जो अपनी दुनिया में खुशी बसाये हुए है उसको बाहर में भी खुशी का वातावरण नजर आता है। तो अपनी दुनिया बाहर कहाँ? खुद का आत्मा यह ही खुद की दुनिया है। हम सभी प्रसंगों में केवल अपना ही कुछ करते हैं बाहर कहीं कुछ नहीं करते। भले ही ऐसा लगता है जीव को कि मैं इतने कारोबार वाला हूं, इतनी

इतनी व्यवस्थायें बनाता हूं लेकिन वस्तुत: मैं कितना? यह मैं अमूर्त, रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित एक चैतन्यपदार्थ हूं। उसे कोई पकड़ नहीं सकता, उसे कोई नजर में ले नहीं सकता, ऐसा जो यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं। वह जो परिणमता है किस रूप से परिणमता है? जाननरूप से, विकल्परूप से, रागद्वेष के बन्धनरूप से, भावरूप से परिणमता है। कहीं बाहरी पुद्गलपदार्थों की भाँति क्रियारूप से नहीं परिणमता। तो यह मैं आत्मा केवल विकल्प ही कर रहा हूं, मैं व्यवस्था नहीं कर रहा हूं, मैं रोजगार नहीं सम्हाल रहा हूं, मैं केवल अपने विकल्प किया करता हूं। मेरा सम्बंध तो मेरे आत्मा तक ही है। तो परलोक भी क्या चीज है? मैं सही हूं तो मेरा लोक सही है, मेरा परलोक सही है, मैं सही नहीं हूं तो परलोक तो क्या यह लोक भी सही नहीं है। कदाचित् हमारे मायाचार के कारण हमारा बुरापन लोग न जान सकें लेकिन मेरा जैसा परिणाम होगा वैसा फल अवश्य सामने आयगा। परलोक का भय ज्ञानी जीव को नहीं होता। वह अपने ही चैतन्य को सुधार रहा है तो परलोक को सुधार रहा है और वह इहलोक को भी सुधार रहा है।

योगियों की वेदनाभयविप्रमुक्तता- तीसरा होता है वेदनाभय। शरीर में किसी प्रकार का रोग हो तो यह भय करना कि हाय अब क्या होगा, कहीं इससे अन्य रोग पैदा न हो जाय, इसकी वेदना कैसे सही जायगी आदिक विचार करके लोग वेदना का भय किया करते हैं, पर ज्ञानी पुरुष में बड़ा धैर्य है, उसके यथार्थ समझ है। मैं शरीर से भी निराली केवल ज्ञानमात्र सद्भूत वस्तु हूं। यद्यपि इस शरीर का वर्तमान में सम्बंध जुडा हुआ है लेकिन मैं आत्मा तो इस शरीर से बिल्कुल निराला हूं- इस प्रकार का सही ज्ञान होने के कारण ज्ञानी पुरुष वेदना का भय नहीं करते हैं। लेकिन वेदना का अर्थ क्या है सो तो सुनो। वेदना का अर्थ है जानना। कोई कहे कि मुझे तो बड़ी वेदना हो रही है तो इसका अर्थ यह है कि मुझे बड़ी जानकारी हो रही है। लेकिन रूढ़ि में लोग पीड़ा की जानकारी को वेदना बोलते हैं, पीड़ा में कुछ अनुभूति विस्तार करते हैं, इस कारण पीड़ा का नाम वेदना पड़ गया है। तो मैं वेदता हूं, जानता हूं, इतनी ही तो वेदना है। तो उसका क्या भय? वह तो मेरा स्वरूप है। ज्ञानी पुरुष वेदना का भय नहीं करता।

योगियों की अगुप्तिभयवर्जितता एवं अरक्षाभयविमुक्तता- चौथा भय है अगुप्तिभय। मेरे पास कोई ऐसा साधन नहीं है कि मेरी रक्षा हो सके। अच्छा घर नहीं, मजबूत किवाड़ नहीं, हमारा परस्पर का वातावरण इतना सुदृढ़ नहीं कि मेरी रक्षा हो सके, कैसे मेरी रक्षा हो सकेगी? इस प्रकार का भय करना अगुप्तिभय है। ऐसा भय तो अज्ञानीजन किया करते हैं। ज्ञानी पुरुष तो जानते हैं कि मेरा स्वरूप अभेद्य है, मेरे स्वरूप में किसी दूसरी बात का प्रवेश ही नहीं हो सकता है। मैं ज्ञानानन्दमूर्ति हूं। इसमें परतत्त्व का क्या प्रवेश है? यह तो कभी मरता ही नहीं है। किसी कारण से ज्ञानी पुरुष

अरक्षा का भय नहीं करता। मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। अरे कौन किसकी रक्षा करता है? मेरी रक्षा मैं स्वयं करता हूं, कोई जीव यदि पापी है, उसके पाप का उदय चल रहा है तो उसकी रक्षा कोई दूसरा नहीं कर सकता। यदि किसी बच्चे के पाप का उदय चल रहा है तो उसकी माँ कितना ही प्रयत्न करे पर उस बच्चे की रक्षा नहीं कर सकती। हम आपकी भी जो रक्षा हो रही है वह हम आपके ही अच्छे आचरण के कारण हो रही है, कोई दूसरा हम आपकी रक्षा नहीं कर रहा है। तो व्यवहार में भी वास्तव में हमने ही अपनी रक्षा की। तो ये ज्ञानी पुरुष योगीजन रक्षा का भय नहीं करते।

योगियों की मरणभयविप्रमुक्तता- छठा भय है मरणभय। कहीं मेरा मरण न हो जाय। ज्ञानी पुरुष तो सोचता है कि मेरा तो कभी मरण ही नहीं होता। मरण तो इन प्राणों के वियोग का नाम है। तो मेरे प्राण हैं वास्तव में ये ज्ञान और दर्शन। मेरा निजस्वरूप वही वास्तव में मेरा प्राण है। जैसे अग्नि का प्राण है वास्तव में गर्मी। गर्मी न रहे तो अग्नि भी नहीं रह सकती है। तो मेरा प्राण क्या है? चैतन्य। तो यह चैतन्य एक अविनाशी तत्त्व है। जिस पदार्थ का जो स्वरूप है वह स्वरूप उस पदार्थ से कभी अलग नहीं हो सकता। वह तो पदार्थ में ही रहेगा। तो मेरा चैतन्यप्राण कभी नष्ट हो ही नहीं सकता, फिर मरण का भय क्या? लेकिन जो मरण के समय भय मानते हैं वे वास्तव में मोहवश मानते हैं। जब यह ख्याल में आता कि अरे ये मकान महल परिजन आदि सब छूटे जा रहे हैं तब मरण के समय में क्लेश होता है। उस समय सारे जीवनभर माने गए मौज के बदले में बड़ा संक्लेश होता है और मरण करके वह जीव खोटी गति प्राप्त करता है, उस खोटी गति में पहुंचकर वहां के दु:ख भोगता है। तब मरण के समय में संक्लेश न हो इसका अभी से उपाय बना लेना चाहिये अगर अपने आप पर करुणा है तो। क्या उपाय बनाना चाहिये? मरण समय में क्लेश होता है ममता का। बाह्यपदार्थों में जो ममता की बुद्धि बसी है उसको छोड़ना होगा। मेरा कुछ नहीं है, मैं सबसे निराला हूं, ये समस्त बाह्यपदार्थ अपने-अपने स्वरूप में रहते हैं, इनसे मेरा सम्बन्ध नहीं है, इस ज्ञान की भावना जब रोज बनेगी तो उससे ममत्व मिटेगा और मरणसमय में अपने आपकी सुधि आयेगी। ज्ञानप्रकाश की ओर दृष्टि रहेगी, तो ऐसा मरण शुभमरण है, समाधिमरण है। इसके प्रताप से आगे भी अच्छा सम्बन्ध मिलेगा। तो ज्ञानी जीव मरण का भय नहीं करते। यह प्राणों का मरण, शरीर का मरण ये तो अनन्तभवों में सब फल भोगे हैं, यों किसी भी चीज में ममता न रहे तो फिर वहां मरण का भय नहीं रहता।

योगियों की आकस्मिक भयविप्रमुक्तता एवं सत्ताभयंकारूपता- 7 वां भय है आकस्मिक भय। जब चाहे व्यर्थ ही आकस्मिक भय की कल्पना बना ली जाती है। जैसे कहीं यह छत न मेरे ऊपर गिर

जाय, अथवा कहीं बैंक में रूपया न मारा जाय, ऐसे आकस्मिक भय बना लेना सो आकस्मिकभय है। यह भय भी इन जीवों को बहुत सता रहे है। तो इन 7 प्रकार के भयों से रहित ये योगीश्वर हैं और ये योगी सर्वजीवों को अभय प्रदान करने वाले हैं। देखिये- योगियों की कितनी सुन्दर मुद्रा है कि केवल शरीरमात्र ही परिग्रह है। जो अज्ञानीजन हैं वे तो उन योगियों के नग्नरूप को देखकर उन योगियों की निन्दा करते है, पर ज्ञानीजन तो उन्हें निर्विकार अत्यन्त सरल चित्त वाले समझते हैं। जैसे कि लोग अपने घर के दो चार वर्ष के बच्चों को निर्विकार सरलचित्त अनुभव करते हैं इसी प्रकार उन योगियों की उस निर्विकार मुद्रा को निरखकर ज्ञानीपुरुष उन योगियों की भक्ति किया करते हैं। देखिये- उन योगियों के पास जब कोई शस्त्र ही नहीं है तो लोगों को उनसे भय किस बात का हो? उनके पास तो मात्र पिछी और कमण्डल ये दो उपकरण रहते हैं। उनकी इस मुद्रा को निरखकर किसी भी पुरुष को भय उत्पन्न नहीं होता। अन्य किस्म के साधुवों को देखकर तो बड़ा भय उत्पन्न हो जाता है- उनके शरीर में भस्म लगी है, हाथ में त्रिशूल लिए है, चिमटा लिए हैं या मृगछाला लिए है अथवा लाठी डंडा लिए हैं उनसे तो सभी लोग भय खा जाते हैं, पर निर्ग्रन्थ योगिजनों से किसी को भय नहीं होता। वे योगी समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करने वाले होते हैं। ऐसे इन योगियों को मैं मन, वचन, काय संभाल करके वन्दन करता हूं।

श्लोक 6

णट्ठट्ठमयट्ठाणै पण कम्मट्ठणट्ठसंसारे।

परमट्ठणिट्ठियट्ठे अटठगुणढीसरे वंदे।।6।।

योगियों की ज्ञानमदरहितता एवं पूजामदरहितता- इसमें भक्ति भी की जा रही है और इस विधि से स्तवन चल रहा है कि इन योगियों में इन तीन तीन चीजें नहीं हैं, ये चार चार बातें नहीं हैं, ये 5-5 बातें नहीं हैं, ये 6-6 बातें नहीं हैं, ये 7-7 बातें नहीं हैं, इस तरह से कुछ एक चतुराई के साथ वर्णन चल रहा है। इस छंद में 8 संख्या से सम्बन्ध रखकर वर्णन किया जा रहा है। इन योगियों ने 8 प्रकार के मद स्थानों को नष्ट कर दिया मद 8 प्रकार के होते हैं- ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, बलमद, बुद्धिमद तपोमद और रूपमद। जिसके कुछ ज्ञान बढ़ा है वह अपने ज्ञान का घमंड करता है। मैं इन सबमें ज्ञानी हूं, मुझे कई विद्यायें सिद्ध हुई हैं, मेरे समान ज्ञानवान कोई नहीं

है, आदिक अभिमान करना यह है ज्ञानमद। योगी पुरूषों में ज्ञानमद नहीं रहता। योगीजन बहुत बड़े ज्ञान के अधिकारी होते हैं लेकिन वे जानते हैं कि मेरे आत्मा का ज्ञानस्वरूप इतना है कि सारे लोकालोक को जान जायें, इतने पर भी उनमें इतनी शक्ति और है कि ऐसे ऐसे लोक अनगिनते भी होते तो उन सबको भी यह ज्ञान जान जाता है। इतनी महान् शक्ति रखने वाला यह मेरा ज्ञानस्वरूप है। यह जो ज्ञान प्रकट हुआ है, यह तो न कुछ जैसा ज्ञान है। जो पुरुष अपने ज्ञान और कला में न कुछ जैसा विश्वास रखते होंगे उनको घमंड कहां से हो सकता है? जो ज्ञान है उसे समझते हैं कि मेरे पास क्या ज्ञान है? वह तो न कुछ जैसा है। तो योगीश्वरों के ज्ञानमद नहीं रहता है। उन योगीश्वरों की पूजा भी बहुत बड़ी होती है। बडे-बडे इन्द्र नरेन्द्रों द्वारा वे पूज्य हैं। पर इतनी बड़ी पूजा निरखकर उन योगियों को मद नहीं होता, वे जानते हैं कि इनकी इस पूजा से मेरा क्या सम्बन्ध? मैं तो ज्ञानमात्र पदार्थ हूं। इस अन्त:प्रभु को यदि में शुद्ध रख सका तो मैंने अपनी पूजा कर ली और उस पूजा से हमें लाभ भी प्राप्त होगा। इन लोगों के द्वारा की गई पूजा से प्रशंसा से मेरे को क्या लाभ? तो वे योगीश्वर पूजा का मद नहीं करते, क्योंकि उनके पर्यायबुद्धि अब नहीं रही। पूजा के मद तो उनके होता है जिनकी पर्यायबुद्धि है, जिनकी दृष्टि इस शरीर पर है। वे योगीश्वर इस शरीर से भिन्न अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को निरखते हैं इससे उन्हें पूजा का भी मद नहीं होता।

सिद्धों और योगियों की शरणरूपता- बाह्य में शरण है कुछ तो दो का शरण है- एक प्रभु का और एक योगियों का। भगवान और योगी। भगवान तो एक चरम अवस्था का नाम है। जहाँ रागद्वेष आदिक विकार नहीं रहे, और आत्मा का स्वभाव विशुद्ध पूर्ण विकसित हो गया है, ऐसे आत्मा को भगवान कहते हैं। उनका हम शरण क्यों गहते हैं कि चूँकि हम आप सभी जीव ऐसे ही स्वरूप वाले हैं, उनका ध्यान करने से हमें अपने स्वरूप की सुध होती है, और ज्यों ही अपने इस ज्ञानदर्शन स्वरूप की सुध हुई त्यों ही अनेक विकल्पोपसर्ग शान्त हो जाते हैं। जब तक अपने आपके स्वरूप की सुध नहीं रहती तब तक यह उपयोग लगेगा। सो बाहर ही बाहर यह उपयोग लगा रहता है जिससे संसार में इस जीव का परिभ्रमण चलता रहता है। तो अपने आत्मस्वरूप की सुध रहने से अपने आत्मा का विशिष्ट लाभ प्राप्त होता है। सारभूत बाहर में कोई चीज नहीं है। कुछ भी यहाँ शरण नहीं है। शरण है एक तो प्रभु का और दूसरा शरण है योगीराजों का। जिन्होंने प्रयोगात्मक अध्यात्मयोग की साधना की है बाह्य या आभ्यंतर समस्त परिग्रहों का त्यागकर अपने आपमें शाश्वत विराजमान चैतन्यस्वरूप की उपासना जिन्होंने की है, उसके लिए ही जिनकी निरन्तर भावना बन रही है, जो संसार में किसी भी विषयादिक की चाह नहीं रखते हैं वे पवित्र आत्मा योगी हैं। उनकी उपासना करना, उनकी शरण गहना भी एक ठीक शरण है।

योगियों की विशुद्ध दृष्टि- परमार्थ और व्यवहार अथवा शुद्ध और विशुद्ध दोनों शरणों में वस्तुत: योगीजन उस मोक्षमार्ग की शरण लेते हैं जिस मार्ग से चलकर हम आप संकटों से दूर हो सकते हैं, पर मोहवश संसारी प्राणी उसकी दृष्टि नहीं कर रहे हैं। अपने स्वरूप से चिगकर किसी भी बाह्यपदार्थ में दृष्टि लगाना, उसका चिन्तन करना, मनन करना, उसे ही उपादेय मानना, उससे भलाई समझना, ऐसी जो समझ है यह समझ ही बड़ी विपत्ति लगी हुई है, क्योंकि समागम तो कुछ समय का है, अन्त में वियोग तो होना ही पड़ेगा। कोई समागम किसी के साथ सदा रहता नहीं। तो इन परपदार्थों का विकल्प कर करके जो अपने में आकुलता मचाई है इसका फल भोगने कोई दूसरा न आयगा। जिनका आश्रय करके, जिनको नजर में रखकर हमने विकल्प मचाये वे तो साथ देने वाले नहीं हैं। वे सब उतने ही जुदे हैं जितने संसार के अन्य अनन्तानन्त जीव जुदे हैं। ये खास लोग हैं, ये मेरे प्रेमपात्र हैं, अथवा इनके लिए ही मुझे सब कुछ करना है, अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ इन्हीं को अर्पण करना है आदिक। पर ऐसी समझ नहीं बन पाती कि ये मेरे घर के लोग भी मेरे से उतने ही भिन्न हैं जितने की अन्य समस्त जीव भिन्न हैं, रंच भी अन्तर नहीं है, ऐसा जिन्होंने स्वरूप समझा था अतएव उनका उत्कृष्ट वैराग्य बढ़ा था, सब कुछ त्यागकर योग धारण किया था, उनका ही नाम योगी है। और वे योगी किसी भी चीज का मद नहीं करते। उनके क्रोध भी नहीं रहता। किस पर वे क्रोध करें, क्यों क्रोध करें? क्रोध का कोई कारण ही नहीं है। वस्तुत: कोई जीव किसी का विरोधी नहीं है, सभी जीव अपने-अपने कषाय के अनुसार अपनी-अपनी चेष्टा करते हैं। हमारा कोई विरोधी नहीं, ऐसी योगियों की दृष्टि रहती है, इस कारण वे समस्त विश्व के मित्र कहलाते हैं। तब फिर क्रोध का क्या प्रसंग वहाँ? मद का प्रसंग यों नहीं है कि उनकी दो दृष्टियाँ हैं- पाये हुए समागमों को वे तुच्छ मानते हैं। जो ज्ञान पाया है उसे भी वे न कुछ जैसा समझते हैं। पाये हुए जाति कुल को भी वे तुच्छ समझते हैं। उनमें वे योगीजन मद नहीं करते।

योगियों की पूजामदरहितता- पूजा प्रतिष्ठा का मद भी वे योगीजन नहीं करते। मेरा तो कोई नाम ही नहीं, वस्तुत: मैं जो सत् हूं वह निर्नाम है, ऐसे ही सद्भूत सभी पदार्थ हैं जैसे हम आप सब है। स्वरूपदृष्टि से निरखने पर ही आत्मा जाना जाता है। आत्मा की जो वर्तमान दशा है, नरक, तिर्यन्च, मनुष्य, देव, पशु, पक्षी आदिक, इनको निरखकर आत्मा का स्वरूप नहीं समझ पा रहे हैं कि वस्तुत: आत्मा क्या है? इसी प्रकार जो पर-परिणतियां चल रही हैं उन्हें भी देख करके हम परमार्थ आत्मतत्त्व को नहीं समझ सकते हैं कि हम परमार्थ आत्मा क्या हैं? और की तो बात दूर रहो, आत्मा का जो वर्तमान में आकार बन गया है, नाना शरीरों रूप में तो इन शरीरों को ही देखकर आत्मा के शरीर को नहीं निरख पाते। जिसका अनुभव करने पर ज्ञानानुभूति होती है। देखते रहें कि मैं आत्मा तो इतना लम्बा चौड़ा हूं? यद्यपि यह प्रदेशित्व गुण को छोड़कर कहां अन्यत्र रहेगा, लेकिन

इस दृष्टि से निरखने पर भी यह अनुभूति नहीं जगती जहाँ आनन्द ही आनन्द बसा हुआ है। रंचमात्र भी जहां आकुलता नहीं हो सकती। कोई विकल्प बाधा नहीं। यह बात तो एक ज्ञानमात्र अपने को अनुभव करने पर होती है। तो इन योगियों को पायी हुई पूजा प्रतिष्ठा में भी मद नहीं है।

भैया ! क्या है? यहां पर्याय का नाम लेकर किसी ने कुछ कह दिया- यह बहुत ठीक है, इसका बड़ा प्रभाव है, कुछ नाम लेकर भी प्रशंसा कर दिया तो उससे क्या लाभ है? उनकी चेष्टावों से मेरी आत्मा को भी क्या लाभ होता है? जितना मैं अपने को ज्ञानमात्र अनुभव कर करके एकरस कर लूँगा, अपने उपयोग को ऐसा बलवान् बना लूँगा कि जब चाहे अनायास ही शीघ्र अपने को ज्ञानरूप अनुभव कर सकते हैं। ऐसी बात पायी जा सकी उसी का नाम योग है और यही योग इस जीव को शरण है। जगत में अनेक कार्य हैं, अनेक व्यापार हैं। नेतागिरी, नाम फैलाने आदिक के जो काम हैं वे सब अनर्थभूत काम हैं, इससे आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं है। आत्मा का लाभ आत्मदृष्टि से है। यद्यपि लोक में रहकर, गृहस्थी में रहकर ये सब कुछ करने पड रहे हैं लेकिन व्यापार के समय व्यापार किया जाता है, घूमने के समय घूमा जाता है। किन्तु अपने आपके अनुभव के लिए भी कुछ समय चाहिये। यह मन हर जगह दौड़ दौड़कर खूब थक जाता है, इस थके हुए मन को आराम भी तो देना चाहिये। अब आप विचार करें कि मन को आराम देने का ढंग क्या है? पुत्र मित्र में राग करने लगें, इससे मन को आराम मिलेगा क्या? अरे इनके पीछे विकल्प करके तो मन थक जाता है। तो थके हुए मन को विश्राम देने का उपाय केवल यह है कि ऐसा ज्ञान प्रकाश पायें कि पर के विकल्पों को छोड़कर विश्राम से बैठ सकें, अपने आपका अनुभव जगे।

आत्मकरुणा करने के कर्तव्य का अनुरोध- एक राजा पर किसी शत्रु ने चढा़ई कर दी, तो राजा सेना लेकर शत्रु का सामना करने चल पड़ा। राज्य में रानी रह गयी। दूसरी ओर से एक शत्रु ने और भी आक्रमण कर दिया। तो रानी ने सेनापति से कहा कि जावो, सेना लेकर इस शत्रु का मुकाबला करो। तो वह सेनापति हाथी में बैठकर उस शत्रु का मुकाबला करने चल पड़ा। वह सेनापति जैन था। सो संध्या के समय वह हाथी पर बैठा हुआ ही सामायिक पाठ करने लगा। उस सामायिक में वह कहने लगा- ऐ पशु पक्षी, मनुष्य कीड़ा मकोड़े, पेड़, पौधे आदि प्राणियों ! मेरे द्वारा तुम्हें जो कुछ भी कष्ट पहुंचा हो तो क्षमा करना। यही तो सामायिक पाठ में बोला जाता है। तो इस बात की चुगली किसी ने रानी से कर दी कि तुमने तो ऐसा सेनापति शत्रु का मुकाबला करने के लिए भेजा कि वह तो रास्ते में छोटे मोटे कीड़ा मकोड़ा, पेड़, पौधा आदिक से भी क्षमा मांग रहा था, वह क्या शत्रु का मुकाबला करेगा, पर हुआ क्या कि वह सेनापति एक दो दिन बाद ही उस शत्रु पर विजय प्राप्त करके आ गया। उसके आने पर रानी ने कहा- ऐ सेनापति, हमने तो सुना था कि तुम रास्ते में

छोटे मोटे कीड़ा मकोड़े, पेड़, पौधे आदिक से भी क्षमा मांग रहे थे, पर तुम तो इतने बड़े शत्रु से जीतकर आये, यह कैसे? तो सेनापति बोला- ऐ रानी जी मैं आपके 23।। घंटे का नौकर हूं, खाते, पीते, सोते, उठते, बैठते, सभी स्थितियों में आपकी आज्ञा में हाजिर रहता हूं, पर रात दिन के 24 घंटे में आधा घंटे तक मैं अपनी नौकरी करता हूं। अपने आत्महित की बात सोचता हूं। सो जिस समय मैं कीड़ा मकोड़ा, पेड़, पौधे आदिक से क्षमा माँग रहा था उस समय मैं अपने आपकी नौकरी कर रहा था, अपने आत्महित का काम कर रहा था और जब युद्ध का समय आया तो डटकर शत्रु से मुकाबला किया। तो इस कथानक से हम आप भी यह शिक्षण लें कि इस रात दिन के 24 घंटों में बाहरी झंझटों में ही हम आप फंसे रहा करते हैं। कुटुम्ब के, समाज के, देश के, अनेक प्रकार के कामकाज में लगे रहा करते हैं पर इन सब कामों के करते हुए में यही सोचना चाहिये कि कम से कम एक आध घंटा अपने आपकी नौकरी करें। इन कामों में पड़कर तो हम अपने आपको बरबाद किये जा रहे हैं, रात दिन रागद्वेष विकल्प मोह ममता में ही पड़े रहते हैं। इन सारे कार्यों से अपने आत्मा की कुछ भी भलाई न होगी। तो अपनी भलाई तो अपनी आत्मदया करने में है और आत्मदया यही है कि अपने आपकी ओर दृष्टि दें। ऐसा करने में ही अपने जीवन की सफलता है। इन्द्रियविषयों के सेवन के कार्य तो पशु पक्षी वगैरह भी करते हैं। यही प्रक्रिया यदि मनुष्यभव में भी रही तो उन पशु पक्षियों से मनुष्यों में श्रेष्ठता क्या रही? तो इन इन्द्रियविषयों में पड़कर तो अपना जीवन व्यर्थ ही खोया जा रहा है। यहाँ के समस्त इन्द्रियविषयों के समागम पुण्याधीन हैं। जैसा पूर्वभव में किया अथवा जैसा अब कर रहे हैं उसके उदय के अनुसार ये सब समागम प्राप्त होते हैं। तो अपने उदयवश जो कुछ भी आय हो उसी में समुचित व्यवस्था बनाकर संतुष्ट रहें। कुछ हिंसा दान परोपकार आदिक धर्म कार्यों में लगे, कुछ अपनी बचत का रखें, कुछ हिस्से में अपना गुजारा करें, और रात दिन के 24 घंटे में कम से कम एक दो घंटे का समय अपने आत्मकल्याण के लिए रहा करे।

परमात्मतत्त्व की उपासना से जीवन की सफलता- अहंकार सबसे बड़ा शत्रु है। जो मैं नहीं हूं उसको मानें कि यह मैं हूं, इसका भी नाम अहंकार है। सच पूछो तो इस अहंकार से हम आप संसारी जीवों की बरबादी हो रही है। अहंकार दूर हो तो परमात्मदर्शन में फिर देर नहीं लगती। जहाँ पर को मैं मान रहा हूं, यह मैं हूं, यह मेरा है। जब उपयोग ही बाहर की ओर खींच गया तो भीतर में बसा हुआ यह परमात्मतत्त्व तुझे कहाँ दिखेगा? तो प्रभु की सुध लेने से हमें अपने आपकी सुध आती है और योगियों की उपासना करने से हममें एक उत्साह जगता है कि मैं ऐसा ही करूँ, मैं भी ध्यान में रहूं, मैं भी सच्चे आनन्द को प्राप्त करूँ। तो योगिभक्ति से, योगियों की उपासना से अपने आपमें अपने को निरखना यही मात्र जीव का शरण है। बाहर में जो अनेक श्रम किए जाते हैं वे

श्रम हम आपको शरण नहीं हैं। तो किसी समय जब भी शान्त चित्त से बैठे हों, दिल में किसी भी परपदार्थ की चिन्ता विकल्प न कर रहे हों, ऐसी ही स्थिति में आत्मा का ध्यान बनता है, और यही आत्मा की सच्ची दया है। हम अपने आपको कुछ कर जायें तो यह मानवजन्म सफल है और अगर कुछ न कर सके तो जैसे अनेक जन्म खोये ऐसे ही यह मानव जन्म भी बेकार में ही खोया समझिये। सब दिन घर घर में ही रहकर, रागद्वेष मोहादिक के प्रसंगों में ही रहकर इस मानवजीवन को गंवा देने में कुछ भी लाभ न मिलेगा।

योगियों के बलमद का अभाव- योग कहते हैं जोड़ने को।जैसे हिसाब में कहते कि इसका योग कर दो, मायने इसे जोड़ दो, इसी प्रकार आत्मा के स्वरूप में अपने उपयोग को जोड़ दो, स्वरूप तो था ही, उसमें उपयोग और जुड़ गया, इसे कहते हैं योग। इस योग को जो धारण करते हैं ऐसे पुरुषों के ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद आदिक नहीं रहते। इसी प्रकार बलमद भी नहीं है। बड़े वीर क्षत्रिय बहादुर अपनी गृहस्थावस्था में थे जिन्होंने बड़ी वीरताओं का परिचय दिया, ऐसे पुरुष जब निर्ग्रन्थ योगी हो जाते हैं तो कोई शत्रु अथवा बलवान उन पर प्रहार कर दे तो उस पर क्षमा धारण करते हैं, न अपने बल के ओर ध्यान भी देते, आत्मस्वरूप में रत रहने की धारणा रखते हैं, उनके बलमद नहीं है। जैसे पांडव आदिक अनेक योगीश्वर हुए, अपने बल के द्वारा कौरव सेना को परास्त कर दिया। साम्राज्य पाकर वे उसमें टिक न सके, वैराग्य की प्रेरणा हुई, विरक्त हुए, उन पर कौरववंश से सम्बंधित छोकड़ों ने उपसर्ग किया। ताते लोहे के कड़े आदिक आभूषण पहिनाये। उनमें क्या इतना बल न था कि उन छोकड़ों को भगा देते? पर उन्होंने अपने बल की ओर कुछ भी ध्यान न दिया। अपने में ऐसी सावधानी रखी कि मेरे आत्मा में इस प्रकार के विकल्प न जगने चाहिएँ। जिन विकल्पों ने ही संसार बढ़ाया उन विकल्पों की भावना नहीं है। निर्विकल्प समाधि में और दृढ़ता स्थित हो गयी, तो ऐसे योगियों के बलमद कहाँ?

योगियों के ऋद्धि तप रूप के मद का अभाव और गुणसमृद्धत्व– योगियों के ऋद्धिमद भी नहीं। उन योगियों को यह भी पता नहीं रहता कि मुझे कौनसी ऋद्धि प्राप्त हुई? तपश्चरण के अतिशय में ऋद्धि उत्पन्न हो जाती है तो उन ऋद्धियों का मद भी उन योगियों को नहीं होता। वे जानते हैं कि हमारी अलौकिक ऋद्धि तो अनन्तज्ञान, अनन्तआनन्द का अनुभव है। यह सूक्ष्म ऋद्धि भी क्या चीज है? तप का भी मद उन योगियों को नहीं रहता। कई मास के उपवास करें, सर्दी गर्मी में वन में निवास करें, कठिन से कठिन उपसर्ग भी आयें, उन्हें सहन करें, ऐसे तपश्चरण करके भी वे योगीजन अपने तपश्चरण का मद नहीं करते। इसी प्रकार उनके शरीर का भी मद नहीं है, रूप का भी मद नहीं है। यों 8 प्रकार के मद से वे योगीश्वर रहित है और वे अष्टगुणों के ईश्वर हैं। जो

तपोबुद्धि के प्रभाव से विशेष प्रकार की ऋद्धियाँ उत्पन्न होती है उनके ईश्वर हैं या अपने गुणों में बढ़ रहे हैं, वे गुणों के ईश्वर हैं। यह सब योग के प्रताप से हुआ है ना तो वे योग की तरफ ध्यान रखते है, सो ये विकास स्वयं चले जाते हैं।

योगियों की कर्मक्षपणोद्यतता व परमार्थकुशलता- योगीश्वर अष्टकर्मों का नाश करने के लिए उद्यमी हुए हैं। द्रव्यकर्म के नष्ट करने का अर्थ यह है कि जिन जीवों को द्रव्यकर्म का बन्ध होता है और जिन भावों से द्रव्यकर्म बलवान बनते हैं उन भावों को न करना, उनके प्रतिपक्षी ज्ञान भावों की ओर आना, यह उनकी आन्तरिक वृत्ति है। तब वे अष्ट प्रकार के कर्म उनके नष्ट हो जाने वाले हैं। ये योगी परमार्थ में कुशल हैं। कलायें जैसे पुरुष में होती हैं जैसे कोई किसी लिखने, पढ़ने, आदिक कला का अच्छा जानकार है तो उसे सुधार लेना, सम्हाल लेना वह उसकी सहजकला से साध्य है। ऐसे ही उन योगीजनों में ऐसी सहजकला है कि जिसके बल पर अपने, आत्मस्वरूप में अपने उपयोग को जब चाहे तब रमा लेते हैं। वे अपनी इस कला में इतना निपुण हो गए है तभी तो क्षण-क्षण में थोडे थोडे समय प्रमत्त से अप्रमत्त होते हैं। प्रमत्त से अप्रमत्त हुए, अप्रमत्त से प्रमत्त हुए इस प्रकार छठे 7 वें गुणस्थान में परिवर्तन करते रहते हैं तो वहाँ बारबार अपनी संभाल ही तो करते हैं। वह उनमें सहजकला ही तो है कि झट अपने इस दौड़ते हुए मन को मोड़कर अपने आत्मा का अनुभव करने लगते हैं। तो वे योगीश्वर परमार्थ में निपुण हैं। ऐसे योगीश्वरों का मैं मन, वचन, काय से वन्दन करता हूं।

श्लोक 7

णववंभचेरगुत्ते णवणयसब्भावजाणगे वंदे।

दहविहधम्मट्ठाई दससंजमसंजदे वंदे।।7।।

योगियों की नवविधब्रह्मचर्यसुरक्षितता एवं नवनयसद्भावज्ञायकता- ये योगी 9 प्रकार के ब्रह्मचर्य से गुप्त हैं अर्थात् सुरक्षित हैं। गुप्त का अर्थ है सुरक्षित। जैसे लोग कहते ना कि इस जीव को इस बक्से के अन्दर गुप्त कर दो, तो इसका अर्थ है कि उस चीज को सुरक्षित कर दो। जब उपदेश में निकले कि अपने आत्मा को अपने में गुप्त करो। तो मोटेरूप से उसका अर्थ करते हैं लोग कि आत्मा में अपने को छिपा लो। और छिपाने का अर्थ क्या है? सुरक्षित कर लेना। तो सुरक्षित के

अर्थ में ''छिपा लेना'' यह अर्थ चल गया है। ये योगीजन ब्रह्मचर्य से सुरक्षित हैं। और ये नव नय के सद्भाव को जानने वाले हैं। आगमसिद्ध 7 नय और अध्यात्मदृष्टि से निश्चयनय और व्यवहारनय- इनके यथार्थस्वरूप को वे जानने वाले हैं। जो नय में कुशल नहीं होते वे साधना में और वस्तु के जानने में सभी में धोखा खाते हैं। नय का एकान्त होने पर ज्ञान ही मलिन नहीं हुआ किन्तु साधना भी मलिन हो गयी। जैसे कोई अपने स्व का सर्व ओर से परिचय रखने वाला है वह पुरुष निर्भय होकर घर में पडौस में रहता है, इसी प्रकार समस्त नयों के विषयों से परिचित रहने वाले पुरुष निर्भय रहकर अपने उद्देश्यपूरक आशय में लक्ष्य में अपने को लगा लेते हैं। तो ये योगीश्वर समस्त नयों के यथार्थस्वरूप के जाननहार हैं। ऐसे इन योगियों को मैं मन, वचन, काय से वन्दन करता हूं। जब योगियों के योगस्वरूप का ध्यान होता है तो भक्तों का स्वयं ही तन, मन, वचन उनकी ओर आकर्षित होता है। इसी आकर्षण का नाम है यथार्थवन्दन।

योगियों की दशधर्मावस्थितता- योगीश्वर 10 प्रकार के कर्मों में स्थित रहते हैं, क्षमा की मूर्ति हैं। कोई क्या करेगा, वह अपनी चेष्टा करेगा। जो विरोध करता है उस पर तो करुणा जगती है कि इसने ऐसा विरोधभाव करके अपने आपको कितना बरबाद कर लिया, उनके प्रति करुणा जगी। क्रोध तो दूर रहे, ऐसी क्षमा की मूर्ति हैं। मान उनके निकट नहीं, नम्र होने से ही तो वे अपने इस ज्ञानसागर में जाकर मिलते हैं। कोई नदी निम्न ही जाय तभी तो समुद्र में मिलती है। तो नदी की भाँति उनके निम्नतावृत्ति है। वे नम्र होकर अपने स्वरूप में मिल जाते हैं। योगीश्वर आर्जव की मूर्ति हैं, सरल हैं। छल कपट करने का कोई प्रयोजन रहा नहीं, किसी वस्तु की चाह उनके है नहीं, यश कीर्ति की भी उनके चाह नहीं है। एक ही उनकी धुनि है कि मेरा यह संसार का रोग कैसे दूर हो? जन्म मरण की परम्परा कैसे मिटे? इस प्रकार असार संसार में कुछ भी उनके वान्छा नहीं। स्वप्न की दुनिया में जैसे नाना विकल्प करता है सोने वाला इसी तरह मोह की नींद में इस दृश्यमान दुनिया को कुछ सच्चा सा समझकर उससे कुछ आशा रखते हैं, हित चाहते हैं, पर किसी पदार्थ से मेरा हित कहाँ? जब सर्व विकल्प तोड़कर अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करें, तब ही वे अपना हित पा सकते हैं। तो ये योगीश्वर सरलता की मूर्ति हैं। कपट करने का न साधन है और न उनकी वृत्ति ही है। ये योगी पवित्र हैं, तृष्णा से पूर्णतया रहित हैं, कोई प्रकार की तृष्णा नहीं अतएव सत्य जिनके प्रकट है, संतोषी हुए हैं, संयम का पालन करते है और विभावों का परिहार करने की चेष्टा किया ही करते हैं। एक ज्ञानभाव है। ज्ञानभावना द्वारा समस्त विभावों का परित्याग करते हैं और बाह्य में बाह्य ग्रन्थों का त्याग किया ही है, ऐसे ये योगी अपने को अकिन्चन अनुभव करते हैं। कुछ भी नहीं है जिसका उसे अकिन्चन कहते हैं। मेरा इस लोक में कुछ है ही नहीं। जो कुछ है वे

5 इन्द्रिय के विषय ही तो पड़े हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श ही तो पड़े हुए हैं, इनमें चित्त रमने से गुजारा क्या चलेगा? थोडे समय को भोग-

भोग लिया तो उससे क्या पड़ेगा? जीभ पर कोई सरस वस्तु रखी तो उसके सुख पर कितने विकल्प करने पड़ते हैं। तो उन योगियों के किसी भी विषय में प्रवृत्ति नहीं होती। कहीं सार है ही नहीं। किस पुरूष को हम प्रसन्न करने की चेष्टा करें? हम क्या आशा करें कि कोई मेरा सुधार करेगा? कोई जीव किसी को प्रसन्न करने में कहाँ समर्थ है? और फिर लोक में कौन किसका शरण हो सकता है? और हो भी व्यवहार से अपनी कल्पना में तो कब तक रहेगा? कब तक संयोग है? आखिर वियोग होगा। अन्य के त्यागने की तो बात क्या? इस देह को तजकर भी तो कुछ निकट शीघ्र में जाना ही तो है। और मृत्यु के निकट आते ही तो जा रहे हैं। क्या है इस लोक में? किसमें कल्पनायें बढ़ाना और अपने उपयोग को मलिन करना। वे योगीजन अपने को अकिन्चन अनुभव करते हैं और आकिन्चन्य भावना के प्रसाद से अपने स्वयं में परिणमन किया करते हैं। यों वे 10 प्रकार के धर्मों के पालन करने वाले हैं। पालने का भी विकल्प क्या? स्वयं वे धर्मरूप हो रहे हैं, अतएव वे धर्म में अवस्थित हैं।

श्लोक 8

एयारसंगसुदसायरपारगे बारसंगसुदणिउणे।

बारसवितवणिरदे तेरसकिरिया दरे वंदे।।8।।

एकादशांगज्ञाता, द्वादशांगनिष्णात, त्रयोदशक्रियापालक योगियों की उपासना- यहाँ संख्या विशेषण लेकर वर्णन कर रहे हैं। जब 10 संख्या के बाद के ये 11 अंग के श्रुतसागर के पार पहुंचे हैं अर्थात् 11 अंगश्रुत के ज्ञाता हैं, ऐसा कहकर उनकी वन्दना कर रहे हैं। 12 वें में कहा कि द्वादशांग श्रुत में जो निष्णात हैं उनकी वन्दना कर रहे हैं। जो निज तत्त्व के स्वरूप का बोध है वह तो सबके एक समान है किन्तु अन्य जो ज्ञान का फैलाव है वह अपने क्षयोपशम के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का है। अनेक योगी एक दो ही अंग के ज्ञाता होते हैं। कोई नहीं भी ज्ञाता होते हैं फिर भी वे श्रुत के और श्रुत के मर्म के ज्ञाता होते हैं। ये द्वादशांगश्रुत में पूर्ण निपुण हैं उनकी हम वन्दना करते हैं। वे योगी 12 प्रकार के तपश्चरण में रत हैं- 6 प्रकार के बाह्य तप उपवास, ऊनोदर व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, एकान्त स्थान में निवास, कायक्लेश आदिक नाना प्रकार के तपश्चरण ये बाह्य

तपश्चरण हैं, और अन्तरंग तपश्चरण हैं- प्रायश्चित्त ग्रहण, गुरूजनों की उपासना विनय आदिक करना, उनकी सेवा शुश्रूषा करना, स्वाध्याय करना, ममत्व त्यागना ध्यान में बढ़ना आदिक। ये अपने सब प्रकार के तपश्चरणों में शुद्धता को बनाये हुए हैं, ऐसे ये योगीश्वर हैं। योगेश्वर 13 प्रकार की क्रियावों का आदर रखते हैं। क्रियावों का अर्थ है यहाँ चारित्र। 13 प्रकार के चारित्र नहीं हैं किन्तु वे अंग हैं। जैसे सम्यग्दर्शन के 8 अंग बताये गए। तो 8 अंगों का जो समुदाय है वह पूरा अंगी है। जैसे- सम्यग्दर्शन के 8 अंग कहे हैं इसी प्रकार ये 13 सम्यक्चारित्र अंग हैं। 5 महाव्रत, 5 समिति और 3 गुप्ति। महाव्रतों में पापों का सर्वथा त्याग है। समिति में सावधानीपूर्वक अपनी सारी प्रवृत्ति है। और गुप्ति में मन, वचन, काय की सर्वचेष्टावों की निवृत्ति है। ऐसे 13 प्रकार के चारित्र का जिनके आदर है वे योगीजन उन चारित्रों की बड़ी संभाल रखते हैं, उन चारित्रों का बड़ा आदर करते हैं - इतना करने से ही यह सिद्ध हुआ कि 12 अंगों के चरित्र के पालनहार हैं। ऐसे चरित्रमूर्ति योगीश्वरों की मैं वन्दना करता हूं।

श्लोक 9

भूदेसु दयावण्णे चउदस चउदससुगयपरिसुद्धे।

चउदसपुव्वपगम्भे चउदसमलवज्जिदे।।9।।

योगियों की चतुर्दशजीवदयापरता व चतुर्दशपरिग्रहवर्जितता- ये योगी 14 प्रकार के प्राणियों की दया से सहित हैं। 14 जीव समास- जीव समास में सभी संसारी जीव आ गए। समस्त संसारी जीवों के प्रति उनके क्षमाभाव है। जो जीव व्यवहार में नहीं आ रहे, जो पकड़ में भी नहीं आते ऐसे जीवों पर उनकी क्या दया होती है? चूँकि सर्वजीवों के सम्बंध में इन सबका उद्धार हो, ऐसी भावना रहती है। अतएव वे सर्वजीवों पर दया करने वाले हैं। तो ये योगीश्वर 14 प्रकार के इन संसारी जीवों के प्रति दया से सहित हैं। ये 14 प्रकार के परिग्रहों से रहित हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह और 9 नोकषायें- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरूषवेद, नपुंसकवेद इन सब 24 प्रकार के विकल्पों से भी वे निवृत्त हैं। इनका वे ग्रहण नहीं करते। एक तो कोई विकल्प को जकड़ लेना, राग करना- इन दो बातों में अन्तर है।

राग व रागानुराग सभी रागों से योगियों की दूरवर्तिता- कोई पुरुष यह समझकर कि यह मानवजीवन बड़ा दुर्लभ है, सुयोग से प्राप्त किया है, तो ज्ञानभावना करके, परमात्मदर्शन करके अपने इस दुर्लभ मानवजीवन को सफल करना चाहिये। इसकी साधना करने का यह सुन्दर अवसर

है। जिस साधना के प्रताप से निकटकाल में ही संसार के समस्त संकटों से छुटकारा पाया जा सकता है। तो इस मानवजीवन को कुछ समय रखना उपयोगी समझ करके जो देह का राग करते हैं, वह राग मूढ़ता भरा राग नहीं है, राग अवश्य है, किन्तु उस राग में भी यदि राग हो और अपने उद्देश्य की सुधि भूलकर विकल्प मचाये जायें तो वे सब मूढ़ता भरे राग हैं। ऐसे ही गृहस्थी में धन का रखना भी उपयोगी है, उससे जीवन चलता है। तो जीवन चलाना है एक आत्मसाधना के लिए, क्योंकि इस जीवन में एक सुबुद्धि प्राप्त की है, और कुछ ज्ञानस्वरूप का परिचय भी हुआ है तो इस अवसर से लाभ उठाना है, ऐसा जानकर गार्हस्थ्य जीवन में उपयोगी होते हुए इस धन आदिक का कोई राग करे तो यह मूढ़ता भरा राग नहीं है। राग है, विभाव है, किन्तु अपने आपकी सुधि न रखकर केवल लोक में धनी कहलाने के लिए और उसमें अपना बड़प्पन जताने के लिए जो चाह होती है वह मूढ़ता भरा राग है। जैसे कोई परिजन मित्रजन के सम्पर्क में यहाँ रहना पड़ रहा है तो वहां तो प्रेमपूर्वक व्यवहार करने से गुजारा है और ऐसा शान्त प्रसन्न रहकर गुजारा करने की स्थिति में धर्मदृष्टि रह सकती है। अतएव परिजन का, कुटुम्ब का राग करना मूढ़ता भरा नहीं है, राग अवश्य है, किन्तु अपना उद्देश्य ही भूलकर जो परिजन मित्रजनों में रति करते हैं, उनमें मोह रखते हैं उनका राग मूढ़ता भरा लगा है। ये योगीश्वर इन सब रागों से भी दूर हैं। वे अपने में विभावपरिणमनों से विरक्त ही रहना चाहते हैं।

योगियों की चतुर्दशपूर्वगर्भता व चतुर्दशरागल वर्जितता- ये योगेश्वर 14 प्रकार के पूर्वो को अपने गर्भ में रखे हुए हैं। 14 पूर्वों का बहुत बड़ा विस्तार है। हैं ये 12 अंग के भेद, 12 वें अंग के भेदों से एक भेद है पूर्व का किन्तु इसका प्रमाण सबको मिलाकर उसके मुकाबले में भी विशेष रहता है ऐसे 14 पूर्वों के ज्ञाता योगीश्वरों का मैं वन्दन करता हूं। ये 14 मलों से रहित हैं, दोषों से रहित हैं, विकल्पों से दूर हैं। जिनको एक सहजज्ञान के दर्शन की कला प्राप्त है और इसी कारण जिनकी परमात्मत्त्व की ओररहने की धुनि रहती है उनको बाह्यविकल्पों में फंसने की आवश्यकता ही क्या है? वे विकल्पों से दूर रहते हैं। फंसा कोई भी बाहरी बातों से नहीं है। जो लोग गृहस्थी में हैं वे गृहस्थी में फंसे नहीं है किन्तु अपने विकल्पों से फंसे हैं। कोई बहुत बड़ा चक्रवर्ती भी हो, अटूट वैभव का स्वामी हो फिर भी यदि उसके पास सही ज्ञान है तो वह तो उस सब वैभव से, समस्त परिजनों से अपने को पृथक् निरखता है। वह तो यही समझता है कि ये सब कुछ मैं नहीं हूं। उसे तो एक ऐसी सहज कला प्राप्त हुई है कि क्षण भर में ही सर्वप्रकार के विकल्पों से दूर हो जाया करता है। तो ऐसे ही आत्मगुणों के अधिकारी वे योगीश्वर हैं। उनका मैं वन्दन करता हूं।

श्लोक 10

वंदे चउत्थभत्तादि जावछम्मासखवणपडिवण्णे।

वंदे आदावंते सूरस्य य अहिमुहट्ठिदे सूरे।।10।।

चतुर्थभक्तादिक्षपणयुक्त योगियों का वंदन- मैं ऐसे योगियों की वंदना करता हूं जो चतुर्भक्त से लेकर 6 महीने पर्यन्त उपवास को धारण करते हैं। चार बार के आहार त्याग का नाम एक उपवास है। जैसे अष्टमी का उपवास किया जा रहा है तो सप्तमी के शाम का भोजन न करना, अष्टमी के दोनों बार का भोजन न करना और नवमी के शाम का भोजन न करना ऐसे चार बार के आहार का त्याग एक उपवास होता है। तो यह संज्ञा एक साधारण लोकव्यवहार की दृष्टि से दी गई है। योगियों को तो एक उपवास योगियों की एक वेला का त्याग होता है, क्योंकि योगी दिन में एक बार ही तो आहार लेते हैं। वेलावों में बताया गया है कि दो वेला एक दिन में होती हैं तो जब से उन्होंने उपवास धारण किया तब से तो 3 वेला का त्याग रहा और एक वेला पारणा के दिन का त्याग में गिन लिया। यों एक उपवास को चतुर्भक्त कहते हैं। ऐसे महीना पर्यन्त जो उपवास धारण करते हैं ऐसे योगीश्वरों को नमस्कार करता हूं। उपवास करने की अधिकाधिक सीमा 6 महीने की है। 6 महीने से अधिक का उपवास करना नहीं बताया है पर एक दृष्टान्त मिलता है बाहुबलि स्वामी का जो कि 1 वर्ष तक निराहार रहे। तो उन्होंने 1 वर्ष तक निराहार रहने की प्रतिज्ञा न ली थी। वे तो तपश्चरण में ऐसा रत हो गये कि एक वर्ष तक निराहार खड़े रहे, तो यह बात दूसरी है। आदिनाथ स्वामी भी 6 माह तक निराहार रहे, उसके बाद फिर 6 माह तक बराबर अन्तराय आते रहे। प्रतिज्ञापूर्वक आहार का त्याग तो 6 महीने तक का होता है। इससे इस वंदना में बताया है कि एक उपवास से लेकर 6 महीना पर्यन्त उपवास धारण करने वाले योगियों का मैं वंदन करता हूं।

निराहार आत्मस्वभाव की दृष्टि का बल- देखिये उन योगियों ने अपने आपमें कितना अद्‌भुत आनन्दधाम प्रकाश पाया है जिसके बल पर छह महीने तक वे निराहार रहते हैं फिर भी प्रसन्न रहते हैं। तो उनको इस प्रसन्नता की कौनसी कुन्जी मिल गयी? बाह्य में दृष्टि रखने से तो वह प्रसन्नता की कुन्जी नहीं मिल सकती।बाह्य परिग्रहों में दृष्टि लगाकर यदि शान्ति के प्रसन्नता के स्वप्न देखें तो व्यर्थ है। परपदार्थों की आशा किए रहने में ही मोहियों का सारा जीवन व्यतीत को जाता है। लोग तो सोचते हैं के हम गृहस्थी में रहकर इतने इतने काम कर लें, ये बच्चे हमारे समर्थ हो जायें, इनको काम में लगा दें, फिर हम पूर्ण स्वतंत्र होकर शान्ति से अपना जीवन गुजारेंगे। आखिर यही सोचते-सोचते, उन्हीं कामों को करते करते सारा जीवन गुजर जाता है पर शान्ति का मार्ग नहीं मिल

पाता। तो उन योगियों ने ऐसी कौनसी चीज प्राप्त कर ली है जिसके बल पर वे 6-6 माह तक उपवास कर लेने पर भी सदा प्रसन्नचित्त रहा करते हैं? तो उन्होंने अपने आत्मस्वरूप को पहिचाना, आत्मस्वरूप में ही दृष्टि रखी जिसके बल पर वे सदा प्रसन्न चित्त रहते हैं।

मोक्षरुचि का निर्णय- भैया ! थोड़ा यह भी सोचना होगा कि हम आपको मोक्ष चाहिये या नहीं। शब्दों से तो हर कोई कह देगा कि हाँ हाँ मोक्ष चाहिये। भगवान ने मोक्ष पाया, वह मोक्ष मुझे क्यों न मिले? परन्तु मोक्ष स्वरूप का वर्णन करें उसे सुनकर हाँ कह दे तब मोक्ष की जिज्ञासा समझना चाहिये। मोक्ष क्या कहलाता है? केवल आत्मा रह गया। शरीर नहीं, परिजन नहीं, वैभव समागम कुछ भी नहीं, केवल आत्मा ही रह गया उसका नाम मोक्ष है। जो विवेकी पुरुष हैं, जिनका संसार निकट है वे भी मोक्ष की बात सुनकर अपनी अभिलाषा रखेंगे कि हां हमें तो मोक्ष चाहिये। तो मोक्ष में हुआ क्या? केवल आत्मा ही रहा। तो अब उसके भोजनपान का प्रसंग तो न रहा, कोई प्रकार का विकल्प न रहा तो वह मुक्त आत्मा अपने आपमें प्रसन्न रहता है। तो ऐसे ढंग से भी सोचें कि हम मुक्त बनेंगे और वहां फिर अनन्तकाल तक सदा के लिए भोजनपान का परिहार हो जायेगा। जो बात सदा के लिए दूर हो गई उसे हम क्यों अधिक चाहे ऐसा भी तो अपने चित्त में सोचा जा सकता है। इन योगीश्वरों के उपवास की बात सोचकर और सिद्ध प्रभु के सदाकाल निराहार अनाहार रहने की बात सोकर ही अपने आपमें भी कुछ उत्साह बनायें। ये योगीश्वर बड़ी गर्मी के समय में सूर्य के सम्मुख स्थित होकर आत्मध्यान किया करते हैं, वे अपने ज्ञानसुधारस का ऐसा पान किया करते हैं कि जिस अमृतपान से वे ऐसा तृप्त रहते हैं कि ऐसी गर्मी में सूर्य के अभिमुख बैठे हुए में वे शीतल बने रहते हैं, अमृतपान किया करते हैं। ऐसी गर्मी के समय सूर्य की गर्मी में स्थित वास्तविक शूर ऐसे योगियों की मैं वन्दना करता हूं।

श्लोक 11

वहुविहपडिमट्ठाई णिसिज्जवीरासणेक्कवासीय।

अणीट्ठिवकंडुवदीवे चत्तदेहे य वंदामि।।11।।

नानाप्रतिमायोगस्थ योगियों को नमस्कार- कहते हैं कि जो बहुत प्रकार के प्रतिमायोग से स्थित रहते हैं। जैसे कोई यह नियम ले ले कि मैं आज रात्रि भर कार्योत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहकर ध्यान करके अपना समय बिताऊँगा अथवा गर्मी के समय में इस पर्वत पर इस शिला पर इतने पहर तक एक आसन से ध्यान में समय लगाऊँगा, ऐसे नाना प्रकार के कठिन तपश्चरण के योग को जो धारण

करते हैं ऐसे योगीश्वरों को मैं वंदन करता हूं। जो नाना विशुद्ध आसनों में रहकर अधिक समय तक ध्यान किया करते हैं अथवा अनेक योगी एक मृतकासन से(मुर्दे की भाँति) पड़े हुए ध्यान करते हैं, एक करवट से लेटे हुए ध्यान करते हैं, जो एकान्त में बसकर किसी का सहारा न तक कर निरपेक्ष होकर ध्यान करते है, जिन्होंने इस ममता को त्याग दिया है, देह से निराला अपना आत्मतत्त्व जिन्हें विशद ज्ञात हो रहा है, यह हूं मैं इनसे निराला। होता है कोई ऐसा विशुद्ध ज्ञान कि जिस ज्ञान में यह बात समायी रहती है कि यह मैं हूं सबसे निराला एक ज्ञानमात्र। ऐसे ज्ञानमात्र योगीश्वरों की मैं वंदना करता हूं।

योगियों का योग- योगी कहते हैं उन्हें जो अपने अन्तस्तत्त्व के योग में लगे रहते हैं। कहाँ जुड़ना है? अपने आत्मा में। किसे जुडा़ना है? अपने उपयोग को प्राय: लोग जानते हैं कि हमारा उपयोग दुकान में गया, मकान में गया, घर में गया। तो यह गया- ऐसा जिसे कहते हैं वही तो उपयोग है। लोग कहते हैं कि मेरा दिमाग घर में है, वहाँ अपना क्या कुछ रह रहा पर में? अरे वह है एक ज्ञान की दशा। ज्ञान पर की ओर अभिमुख होकर पर में खींच रहा है इसको कहते हैं ज्ञान पर में चला गया। तो क्या ज्ञान बाहर में जाता है? अरे अपना उपयोग ही तो अपना वैभव है, वही अपने में से बाहर दृष्टि करके घटा दिया तो यहाँ घटी आयी कि नहीं? यही उपयोग जब आत्मस्वरूप में जुड़ जाता है, इस उपयोग का योगस्वभाव में हो जाता है तब यह समृद्धिशाली हुआ। जोड़ देने पर निधि तो बढ़ती है। उपयोग जब अपने ज्ञानस्वरूप में ठहरता है तो अपनी समृद्धि बढ़ जाती है। तो अपना उपयोग, अपना अन्त:ज्ञायकस्वरूप आत्मा में जुडे इसका नाम है योग। ऐसे योग जो बनाये रहते हैं उन निर्ग्रन्थ साधुवों को योगी कहते हैं।

सिद्ध और योगी दोनों की आराध्यता- साधु और सिद्ध दो ही तो आराध्य हैं। एक तो सिद्ध हो गये, मायने आत्मा का प्रयोजन पूर्ण हो गया, मिल गया, अब कुछ करने को बाकी नहीं रहा, वे तो हुये सिद्ध, जिसकी हम पूजा करते हैं। अरहंत के बाद सिद्ध होते हैं अरहंत भी सिद्ध ही हैं, विकास उनका भी पूर्ण है। और एक होते है साधक, जो कि सिद्ध दशा को प्राप्त करने की साधना किया करते हैं। इन ही साधकों का नाम है योगी। संसार में बस दो ही सारभूत आत्मा हैं। ऐसी वृत्ति ही सार है, परपदार्थों में लगने का काम तो असार है, उससे आत्मा का गुजारा नहीं चलता। अपने आपमें उपयोग जुडे तो इसमें आत्मा की भलाई है। ऐसे योगी पुरूषों का मैं मन, वचन, काय की संभाल करके वन्दन करता हूं।

श्लोक 12

ठाणी मोणवदोए अब्भोवासी य रुक्खमूली य।

धुबकेसमंशुलो में निप्पडियम्मे यवंदामि।।12।।

कायोत्रासनयोगी का अभिवन्दन- जो योगी पुरुष कैसे होते हैं उनका कुछ वर्णन इसमें किया है। योगी का अर्थ है आत्मा के स्वरूप को उपयोग में जोड़ने वाला। आत्मा का स्वरूप है सहजज्ञानानन्द। उस स्वरूप में उपयोग जोड़ना अर्थात् ज्ञान में ज्ञान और आनन्द का स्वरूप समाये रहना इसको कहते हैं योग। ऐसा जो कार्य है वह कैसा होता है? उसकी विशेषतायें बतायी जा रही है। कोई कायोत्सर्ग से ध्यान कर रहे हैं खड़े निश्चल, जैसे बाहुबलि महाराज एक वर्ष तक निश्चल खड़े रहे। आश्चर्य की बात है कि एक वर्ष तक निद्रा भी न लगी, जरा मुडे भी नहीं, बैठे भी नहीं, ऐसा कैसे होगा? तो आजकल भी तो हीन संहनन के धारी पुरुषों में ऐसे साहसी अब भी पाये जाते है जो 11-12 खड़े रहकर ध्यान कर सकते हैं, एक दो रात्रि दिन जागरण करते हुए ध्यान कर सकते हैं। जो विशेष उत्कृष्ट संहनन के धारी हैं उनकी बात तो अनोखी ही है। तो जो स्थानी हैं, कायोत्सर्ग से खड़े हुए हैं ऐसे योगीश्वरों का मैं वन्दन करता हूं।

मौन योगियों का अभिवन्दन- मौन व्रत से रहने वाले योगीयह योगियों की खास विशेषता है। न रखे वे योगी मौन तो वे बहुत कम बोलते है और जब बोलते हैं तो हित, मित, प्रिय वचन बोलते हैं। गृहस्थों को भी तो अपने आत्मस्वरूप में अपना उपयोग लगाने की बात रुचा करती है, तो उनको अपना जीवन इतना गम्भीर बनाना होगा कि कम बोलें। और जब बोले तो दूसरों के हितमित प्रिय वचन बोले तो ये योगी अधिकतर मौन व्रत में रहते हैं। तीर्थंकर जब योगी होते हैं तब वे केवलज्ञान प्राप्त होने तक तो मौन व्रत से ही रहा करते हैं। ऐसे भी अनेक योगी हैं जो योग के प्रसंग में एक अपने आपको निरखते हैं, अपने आपके निकट रहते, अपने ही स्वरूप में बात करते। वे सब अन्तरंग योगी हैं। तो जो मौन व्रत के धारी हैं ऐसे योगीश्वरों का हम वन्दन करते हैं।

योग्यविहारी योगियों का अभिवन्दन- जल तट के निकट रहने वाले अथवा आकाश में विचरने वाले ऐसे योगी एक उत्कृष्ट आत्मबल रखते हैं कि जल के तट पर शीतकाल में यत्र तत्र ठंड के दिनों में निष्कंम्प होकर विराजें यह उनका बुद्धि बल है, आत्मबल है। और ऐसे ही अनुपम आत्मबल से उनके ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं जो कि आकाश में विहार करते हैं, निर्मलता जिनके स्पष्ट विदित होती है। जो रहते हैं आकाश में या विहार करते हैं, उनके निर्मलता स्पष्ट विदित हो रही है कि इस

मायामयी दुनिया से कुछ काम था ही नहीं, तो अब स्पष्ट दिखता है कि आकाश में विहार करते हैं, ऐसे तपस्वी योगीश्वर को मैं वंदन करता हूं। वृक्षमूल में विहार करने वाले योगीश्वर कितने आत्महित में निष्णात हैं। जैसे कोई पुरूष वृक्ष के नीचे रातदिन रहता है तो उसकी कैसी मुद्रा रहती है? गृहस्थ भी अगर कोई कहीं आसरा न होने से वृक्षों के नीचे रहता हो तो उसके कितना परिग्रह है, कितनी खटपट है और उसको 1 जगह छोड़कर दूसरी जगह जाना हो तो विकल्प नहीं करना पड़ता। थोड़ा उस वृक्ष के नीचे ठहरा। उसको एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष के नीचे जाने में कोई तकलीफ नहीं होती है। वह अनायास ही एक वृक्ष के नीचे से दूसरे वृक्ष के नीचे चल देता है। अथवा जैसे पक्षीगण रैनबसेरा किया करते है, अभी किसी वृक्ष पर बैठे हैं उड़कर किसी दूसरे वृक्ष पर बैठ गए। उन्हें एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाने में कुछ भी तकलीफ नहीं होती है। वे पक्षी अनायास ही उड़ जाते हैं। इसी तरह ये योगीश्वर हैं जो कि जंगलों में वृक्षों में निवास करते हैं। इन्हें एक जगह से दूसरी जगह जाने में रंच विलम्ब नहीं लगता। जब चाहे अनायास ही चल देते हैं। तो लोक में सारभूत काम यही है- अपने आत्मस्वरूप की संभाल करना, अपने आपके निकट रहकर संतुष्ट रहना। अन्य समस्त परवस्तुवों का परित्याग करें वे योगीश्वर किसी भी प्रकार की इच्छायें नहीं किया करते।

केशश्मविरक्त श्रूयोगियों का अभिवन्दन- उनके योगियों केश श्मश्रुबाल आदिक भी बढ़ जाते हैं तो वे कितने निस्पृह विदित होते हैं कि जब वे बढ़ गए तो अधिक से अधिक 4 महीने तक ही रखते हैं। उसके बाद केशलुन्च करते हैं। यदि किसी साधु को चार माह का पता ही नहीं रहा, 6 माह या एक वर्ष हो गए, तो उतने दिनों में उनके बहुत बढ़ जाते हैं, तो बढ़ जाने पर कुछ व्यवहार में आयें हों तो वे उतने बड़े बाल नहीं सख सकते हैं, उन्हें केशलोंच करना होता है। तो उनमें एक कितना उच्चवैराग्य है। भले ही कोई केशलोंच करता है, लोग जुड़ गए हैं, देख रहे हैं, बड़ा साहस बताकर केशलोंच करे, लेकिन फर्क है उस एकान्त में केशलोंच करने व लोगों के बीच केशलोंच करने में। यहाँ अनेक लोगों के बीच केशलोंच करते हुए में यद्यपि अन्दर से उतना वैराग्य नहीं है, फिर भी लोगों को दिखाने के लिए, लोगों में अपने वैराग्य का प्रदर्शन करने के लिए वे थोड़ा कष्ट सहन करके भी बड़ी जल्दी केशलोंच करते हैं, अपनी मुखमुद्रा को प्रसन्न भी दिखाते हैं, यों उसमें बनावट की भी अनेक बातें आ जाती हैं, एकान्त में जो केशलोंच होता है उसमें बनावट नहीं आ सकती है। और उस एकान्त स्थान में केशलोंच करने में वीतरागभावों की पुष्टि होती है। तो ऐसे योगीश्वरों का मैं वन्दन करता हूं।

निष्प्रतिकर्म योगियों का अभिवन्दन- ये योगीश्वर निष्प्रतिकर्म होते हैं। उनमें कोई श्रृंगार नहीं। उन योगीजनों को जब किसी से कोई प्रयोजन नहीं रहा तो वे घर में कहाँ तक रहें, परिजनों में भी राग

न रहेगा तो वे परिजन क्या उन योगीजनों के साथ चिपके रहेंगे, वस्त्रों में भी उनके राग न रहा तो वस्त्र भी उनसे चिपके न रहेंगे। राग न रहने के कारण निवृत्ति होती है तो वहाँ वही निर्ग्रन्थ मुद्रा रह जाती है। उनकी मुद्रा में कोई श्रृंगार नहीं, वे निष्प्रतिकर्म हैं। वे योगीश्वर इतना भी नहीं करते कि अगर देह में मैल चढ़ा हुआ है तो खूब मलकर उस मैल को छुटाते हों। उनको शरीर को साफ रखने की दृष्टि ही नहीं है। वे जानते हैं कि यह शरीर तो एक दिन जला दिया जायगा, इसकी अधिक खुशामद करने से क्या लाभ है? हाँ चूँकि इस शरीर से धर्मसाधना का कुछ काम लेना है इसलिए इसकी थोडी़ सी संभाल रखनी चाहिए, पर इसे तैल साबुन क्रीम पाउडर वस्त्राभूषण आदि से सजाना, यही तो एक मूढ़ता भरी बात है। तो जहाँ इस शरीर को सजाने की कोई आवश्यकता ही नहीं रही वहाँ ठूठ जैसा पड़ा है। जैसा चाहे मलिन शरीर हो गया हो तो पड़ा रहने दो जैसा का तैसा, उससे तो यह मैं आत्मा बिल्कुल निराला हूं। इस देह को छोड़कर तो जाना ही है। उस देह से उन्हें ममता नहीं है, ऐसा उनका अन्तरंगभाव स्वच्छ है, जिनको लगन लगी है अपने ज्ञानस्वरूप का ज्ञान करते रहने की उनको ये सब बातें फीकी लगती हैं। तो जो योगीजन श्रृंगार रहित हैं उनका मैं वन्दन करता हूं।

श्लोक 13

जलमल्ललित्तगत्ते वंदे कम्ममलकलुसपरिसुद्धे।

दीहणमसुलो मे तवसिरिभरिये णमंसामि।।13।।

देहविरक्त योगियों का अभिवन्दन- ऐसे योगीश्वरों को नमस्कार हो जिनका दर्शन करने से ऐसा भाव बनता कि जिन भावों के कारण भव-भव के पातक कट जाते हैं। भला इस लोक में किन जीवों का सहारा लिया जाय कि पाप कट सकें। जो खुद पाप करते हैं, जो खुद मोह रागद्वेष में लिप्त हैं उनका सहारा लेने से वह भाव नहीं बन सकता जिसका सहारा लेने से पाप कटा करते हैं। माना कोई इष्ट पुत्र मित्र हैं, उनका सहारा तकने से, उनमें स्नेह रखने से, उनकी सेवा से, उनके सहवास से इस जीव को शान्ति कहाँ प्राप्त होती है। अशान्ति ही बढ़ती है? राग में किसी अशान्ति के रूप

को ही अज्ञानीजन शान्ति मान लेते हैं। राग में क्षोभ ही होता है और उस क्षोभ में ये विषय साधन वाला क्षोभ है इस कारण से शान्ति माना है। वस्तुत: शान्ति वहाँ है जहाँ रंचमात्र भी क्षोभ नहीं है। तो जो क्षोभ के पुन्ज हैं, विषयकषाय के जो निधान हैं, ऐसे स्त्री पुत्र मित्रों का सम्पर्क रखने से, उनका सहारा तकने से इस आत्मा को क्या लाभ मिलेगा? ऐसे योगीश्वरों की शरण में कोई जाय तो वहां लाभ मिलेगा। योगी जलमल आदिक से लिप्त हैं उनका शरीर तो ऊपर से मलिन किन्तु रत्नत्रयधारी आत्मा के रहने के कारण पवित्र है, ऐसे पवित्र आत्मा के गुणों पर दृष्टि रखकर जो उनकी सेवा उपासना करता है उसे शान्ति प्राप्त हो सकती है।

शान्ति और अशान्ति की निजभवाधीनता- भैया ! शान्ति और अशान्ति के लिए केवल एक दिल की ही तो गति करना है। विषयकषायों की ओर दिल भेजा जाय तो अशान्ति हो गई, और नहीं भेजता तो क्या गुजारा नहीं चलता? चलता है। जैसे कल्पना में समझ लो, किसी इष्टरूप के देखने में समय गुजरा, आकर्षण किया, विकल्प मचाये, दीनता बनी, पराधीनता बनी और ऐसा योग न जुड़ा होता, किसी योगी के निकट बैठे होते, और अपना मन एक विशुद्ध ज्ञान में रहता तो क्या समय न निकल सकता था? अरे उससे और अच्छा गुजारा होता है। लेकिन मोह में जीव यह मानते कि ऐसा विषय मिलाये बिना मेरा गुजारा ही नहीं। इतिहासों में या आजकल भी जो कुछ लोग ऐसे हैं कि जिन्होंने यह ठान लिया कि अमुक कामिनी के बिना मेरा गुजारा ही नहीं। जैसे किसी का चित्रपट मिला तो वह यह ठान लेता कि मेरा तो पाणिग्रहण इससे ही हो और अन्नजल छोड़ देता है और वह समझता है कि ऐसा किए बिना प्राण टिक ही नहीं सकते। और कल्पना करो कि यदि आपका उस इष्ट से संयोग न जुड़ा होता तो क्या ठीक-ठीक समय न गुजरता? तो ऐसे योगियों के निकट बैठने से दिल बदलता है, उपयोग शुद्धतत्त्व की ओर रहता है तो उनका समय बहुत अच्छा निकलता है। ऐसे योगीश्वरों का बाहर में शरीर देखो तो अत्यन्त मलिन शरीर है, फिर भी वे पवित्र आत्मतत्त्व में अपना उपयोग बसाये रहते हैं। धन्य है उन योगीश्वरों को जिनके भीतर ही भीतर ज्ञान बड़ी पैनी धार से चलकर ऐसा प्रवेश कर गया कि बस निजज्ञानप्रकाश ही समा गया है, वही जिन्हें प्रिय लगता है और प्रकट यह सब असारता जान ली गई है, ऐसे योगीश्वरों की उपासना से शान्ति प्राप्त होती है।

प्रक्षालितकर्मकलंक योगियों का अभिवन्दन- यहां जिनको कुछ बताना चाहते हैं वे सब यह शरीर हैं, असार हैं, मिट जाने वाले हैं और जो सही चीज है, परमार्थ आत्मा है उसे यहां कोई जानता नहीं। किसको क्या बतायें, और परमार्थ जो स्वरूप है उसे कोई आत्मा जान ले, मान ले तो अन्तस्तत्त्व

को मानकर फिर वे किसी को कुछ बताने का भाव भी नहीं कर सकते, विकल्प भी उनके नहीं होता। अहो, यह काम न किया इस जीव ने और तो सारे असार काम कर डाले, धन जोड़ लिया तो क्या है, आखिर मरण तो होगा ही, फिर क्या रहेगा अपने पास सो तो बतावो। सबसे बड़ी विपत्ति है यह अज्ञान। बाह्य की ओर आकर्षण किया। जिसे इज्जत समझा है लोगों ने उस इज्जत को तो धूल में मिला देना होगा, तब अपना कल्याण बन सकता है। उसमें रखा क्या है। किसी ने कुछ समझा, किसी ने कुछ जाना तो क्या वह प्रभु है? अरे जिन्हें हम अपने विषय में कुछ समझाना चाहते वे तो हमसे भी अधिक विषयकषायों से मलिन जीव हैं। उनसे मेरे आत्मा का क्या संपर्क? तो जो योगीश्वर होते हैं वे इन कर्मकलंकों से रहित होते हैं। कलंक यही तो हैं रागद्वेष आदिक विकल्प। आत्मा में कलंक लदा है रागद्वेष, कल्पना, इच्छा, चिन्ता चाह आदिक का। इस कलंक में रहते हुए आत्मा को चैन नहीं है। अब यह निमित्तनैमित्तिक सम्बंध की बात है कि ऐसे रागद्वेषमोह का कलंक छाया हो आत्मा पर तो कामार्णवर्गणा कर्मरूप बनती है और उनके उदय में फिर ऐसा ही रागादिक छाता है। हम लोग उन कर्मों को तो गाली देते हैं जिनकी शकल सूरत नहीं मालूम, केवल पुस्तकों में पढ़ रखा है- कार्माणवर्गणायें होती हैं अथवा युक्ति अनुमान से निर्णय बना लिया है ऐसे उन कर्मों को तो गाली देते हैं, पर यह नहीं निरख रहे कि जो तन्मय बनकर तत्काल में तादात्म्यरूप से रहकर मेरे को बरबाद कर रहे हैं, वह हैं असल में कर्मकलंक। जिस उपयोग में रागद्वेषमोहभाव छाया हुआ होता है उस उपयोग में कोई शुद्धवृत्ति तो नहीं ठहर सकती। साक्षात् दृश्यमान है इतना भी सम्भव नहीं है, इन विषयकषाय के विकल्पों के निकट थोड़ा सा ज्ञानप्रकाश यह आत्मा बनाये रहे। शत्रु शत्रु अगर लड़ते हैं तो दो शत्रुवों की सत्ता तो है पास में, मगर ये विभाव ऐसे शत्रु हैं कि विषयभाव है तब शुद्धभाव नहीं। और जब शुद्धभाव है तब विषयभाव नहीं। हां, अंशों की दृष्टि से तो यह निर्णय बनाया जा सकता है कि कितने अंशों में कषाय है, कितने अंशों में विषयकषायों की मलिनता है और कितने अंशों में शुद्धता है, पर विषयभाव और शुद्धभाव का साक्षात् विरोध है, ऐसे कर्मकलंकों को जिन्होंने दूर किया है ऐसे योगीश्वरों को नमस्कार करता हूं।

वृद्धकेशश्मश्रूनख व तपःश्रीभरित योगियों का अभिवन्दन- योगी ऐसे परमविरक्त हैं कि जिनके नख बाल आदिक बहुत बड़े हो गए हैं, पहिले छंद में बताया था कि जिन योगियों के केश बड़े हो गए हैं, वे ऐसे ध्यान में रत रहे कि 4-6 माह तक केशलोंच न किया। केश मूँछ दाढ़ी आदिक बढ़ गए तो उनके उन बढे हुए बालों की महिमा नहीं गायी गई, किन्तु उनका ऐसा ज्ञानस्वभाव में उपयोग जुडा कि जिस ज्ञानयोग में उनको बाहर में कुछ भी सुध बुध नहीं है, नख बढे हैं, केश बढे हैं,

उनको सुनकर हम भीतर की स्वच्छता पर दृष्टि डालते हैं ऐसे शुद्ध भाव वाले योगीश्वरों को मैं नमस्कार करता हूं, जो तपश्री से भारित हैं- तप है एक लक्ष्मी। लक्ष्मी अगर प्रसन्न हो जाय अर्थात् निर्मल हो जाय तो कहते हैं कि वह समृद्धिशाली बन जाता है। लक्ष्मी प्रसन्न हो जाय तो आत्मा को सारे सुख मिलेंगे यह बात बिल्कुल सही है मगर समझें तो सही कि इसका अर्थ क्या है? लक्ष्मी का अर्थ क्या है? जो आत्मा का चिन्ह है, लक्षण है उसे लक्ष्मी कहते हैं। ज्ञानलक्षण को लक्ष्मी कहते हैं। ज्ञानलक्ष्मी जिनकी प्रसन्न है, जिनका ज्ञान निर्मल हो गया है। जिनकी अन्तरंगलक्ष्मी प्रसन्न हो गई है उनको सर्वसमृद्धियाँ मिल गई। दु:ख आकुलता, चिन्ता, विकल्प आदिक यदि होते हों तो चाहे किसी के अरबों की भी सम्पत्ति हो, पर उसे समृद्ध नहीं कह सकते। खुद तो वह बड़ा दु:खी है। जो ज्ञानादिक लक्ष्मी से चढ़े बढे हुए हैं ऐसे योगीश्वरों को मैं नमस्कार करता हूं।

श्लोक 14

णाणोदयाहिसित्ते सीलगुणविहइसिये तवसुगधे।

ववगयरायसुद्दड्ढे सिवगइपहणायगे वंदे।।14।।

ज्ञानोदयाभिषिक्त योगियों का अभिवन्दन- ऐसे योगीश्वर जो ज्ञान के उदय से आभिषिक्त हैं, अर्थात् ज्ञानजल से जिनका अभिषेक हुआ है, अभिषेक होने से अधिक बातें मर्म की विदित होती हैं। अभिषेक होने से शीतलता आती है तो संसार के विकल्पों का जो संताप छाया था तो यह ज्ञानभाव आया तो शीतलता आ गयी। उपयोग बनाकर परख लीजिये। जब ज्ञान में केवलज्ञान का ही स्वरूप रहता और कोई न बसा होता, किसी की कल्पना नहीं होती, उस समय तो यह आत्मा एक बादशाह है, नायक है, प्रभु है। अब इसके कौनसी कल्पनायें रह गयीं, कौनसा विकल्प रह गया? जब ज्ञान में ज्ञान समाया है तो उसे सब कुछ मिल गया। यही है स्वार्थसिद्धि। स्वार्थसिद्धि में रहना है तो ज्ञानानुभूति में रहे। ज्ञानानुभव के समय सर्वअर्थों की सिद्धि हुआ करती है, यही है अनुदिश धाम। जो अपने आपकी एकमात्र दिशा है उस दिशा के अनुसार जिनका उपयोग बना है उसको प्रमाण हो। दिशा लक्ष्य को भी कहते हैं। लक्ष्य के अनुसार जो उपयोग बनता है वह उपयोग है अनुदिशधाम याने सर्वोत्कृष्टधाम। जिसका नियम है कि एक दो भव के बाद ही निर्वाण प्राप्त कर लें। उर्ध्वलोक में बसने वाले अनुदिश सर्वार्थसिद्धि व अनुत्तर विमान से मुक्ति नहीं मिलती। एक भव अथवा दो भव धारण करके मुक्त होते हैं, मगर अपने ही उपयोग के द्वारा अपने में ही बना लिया गया अनुत्तरधाम जिससे उत्कृष्ट और कुछ नहीं है उससे तो इसी भव में मुक्त होना है, तो इन सब ज्ञानाभिषेकों से

शीतलता अनुभव की गई है। दूसरे अभिषेक से स्वच्छता प्रकट होती है। आत्मा की स्वच्छता यही है कि एक विशुद्ध रागद्वेषरहित सच्चा ज्ञान बना रहे। परवाह न करें कि ये परिजन के लोग क्या करते हैं? अरे सभी जीव अपने अपने भाग्य के अनुसार अपनी-अपनी व्यवस्था बनाते हैं। यह पुरुष तो सबका नौकर चाकर बन रहा है। इसे खुद को क्या मिल रहा है? धन जोड़कर रखा तो खुद को उससे क्या मिलना है? एक विकल्प विडम्बना बनायी जा रही है। परिजन बहुत अच्छे मिल गए तो उससे खुद को क्या मिलता है? वे परिजन क्या हित कर देंगे? बल्कि वे स्नेह का बन्धन बढ़ जाने से बरबादी के ही कारण बन सकते हैं। इस मोह का तो परिहार किये बिना आत्मा का गुजारा हो ही नहीं सकता, और परिजन का ही मोह छोड़ने की बात नहीं, दुनिया के सभी परभावों के मोह छोड़ने की बात है। इन्द्रिय का व्यापार बन्द किया, मन की दौड़ समाप्त की, सबके हाथ जुडे, हाथ जुडे के मायने हाथ जोड़ना नहीं, किन्तु इनमें से मेरे लिए कोई निमित्त बनता है तो क्षोभ का निमित्त बनता है। पर विशुद्ध आनन्द का अनुभव करने का कोई निमित्त नहीं बनता इसलिए हे सब परपदार्थ चेतन अचेतन, तुम अपने ही घर रहो, तुम्हारे हाथ जोडूं। मैं अब अपने निजस्वरूप में बसूँगा, जिसके ऐसा ज्ञान का उदय चल रहा है। स्वच्छता तो उस महापुरूष के है। ऐसे स्वच्छ और शीतल शुद्ध आनन्द का अनुभव करने वाले योगीश्वरों की मैं वन्दना करता हूं।

शीलगुणविभूषित योगियों का अभिवन्दन- बाह्य आभ्यंतर परिग्रह से रहित ज्ञानध्यान तपश्चरण में लवलीन एक निजशुद्धज्ञानस्वरूप की अपने आपकी प्रतीति रखने वाले योगीजन शीलगुण से विभूषित होते हैं। आत्मा का श्रृंगार शीलगुण है। शील कहो या गुण कहो, एक ही बात है। शील तो है एक व्यापकरूप। शीलस्वभाव सहजभाव में रहना और गुण है भेदस्वभावरूप। ज्ञानदर्शन चारित्र आनन्द गुणों से विभूषित रहना, अथवा शील से विभूषित हैं कि इनकी निरन्तर दृष्टि आत्मा के ज्ञानस्वभाव पर रहती है। किसी भी समय इसका विस्मरण नहीं करते। इसका निरन्तर स्मरण ही जीव का शरण है। सो यही शरण वे गहते रहते हैं और गुणों से विभूषित होने से चारित्र में विशेषता आयी। गुणों के शुद्ध विकास होने में ही उनका श्रृंगार है, ऐसी शील और गुणों से विभूषित योगियों को मैं वन्दन करता हूं।

तपःसुरभित योगियों का अभिनन्दन- जो तप से सुगंधित हैं, तपश्चरण करने से शारीरिक गंध में भी विशेषता होती है, आत्मीय सुरभि तो उत्तम होती ही है। पर तपश्चरण के प्रताप से रोगादिक नहीं रहते और कुछ अतिशय भी उत्पन्न हो जाते हैं। जब तपश्चरण के प्रताप से ऋद्धियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं, शारीरिक सुगंध आदिक उत्पन्न हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। जहाँ ऋद्धियाँ बतायी जायेंगी कि जिनका मल भी एक औषधि बन गया है, उसका स्पर्श हो जायें तो रोग दूर हो जायें

इसमें अत्युक्ति की बात भी नहीं है। तपश्चरण की ऐसी महिमा है कि उनका शरीर, उनका रग रग जीवों के रोग के दूर करने का निमित्त हो जाता है, तो ये योगीश्वर तप:सुगंध वाले हैं। अन्त:वातावरण शान्तिप्रद है उससे तो वे सुगंधित हैं ही, पर देह गंध भी उनकी सुरभित हो जाती है। ऐसे एक ज्ञानयोग में उपयोग रखने वाले योगीजनों को मैं वन्दन करता हूं।

दृढ़तम स्वोपयोगी योगियों का अभिवन्दन- ये राग दूर होने से अपने आपमें बहुत दृढ़तम हैं, कितने भी उपसर्ग आयें, विघ्न आयें, पर अपने स्वरूप से चलित नहीं होते। देव, इन्द्र, चक्री आदिक उन योगियों के प्रति क्यों झुकते हैं? उनके चरणों में क्यों झुकते हैं? उनके चरणों में क्यों वन्दन करते हैं? उनके आत्मा विशेषता है। धन वैभव या ऊपरी इज्जत की विशेषता होने से कोई झुकता नहीं, और अगर धन वैभव आदिक विशेषताओं के कारण कोई झुकता भी है तो वह अन्तरंग से नहीं झुकता। जिसका स्वार्थ पूरा सधता है वह हृदय से कुछ चाहता है किसी धनिक को और जिसके स्वार्थ बाधा आती है, स्वार्थसिद्धि नहीं होती है। वह धनिकों के प्रति झुकता तो है पर पीछे से उनकी निन्दा करता रहता है, पर जिनका अन्त:तत्त्व विशुद्ध हो गया है ऐसे ये योगीश्वर, इनकी ओर कोई झुकेगा तो विनय से ही और अन्तर्भाव से झुकेगा। तो ये समस्त भक्तसमूह जो योगिराज के चरणों में आते हैं उसका कारण यह है कि उनमें राग नहीं है, और राग न रहने से ये स्वयं सुदृढ़ हैं, जिनका चित्त अस्थिर है, जो अपने आपमें दृढ़ नहीं रह सकते इसका कारण है कि उनके विषयों का राग लगा हुआ है, उसकी धुन रहने के कारण किसी एक बात में स्थिरता नहीं रहती। वे योगीश्वर रागद्वेष से रहित हैं अतएव अपने आपमें सुदृढ़ हैं, ऐसे दृढ़तम उपयोग वाले योगीश्वरों का मैं वन्दन करता हूं।

शिवगतिपथप्रणायक योगियों का अभिवन्दन- ये शिवगति के प्रकृष्ट नायक हैं। नायक कहते हैं ले जाने वाले को। ले जाने में खुद भी जाना जाना पड़ता है और दूसरे लोग भी उसके साथ रहते हैं। जो स्वयं मोक्षमार्ग में चले और दूसरों के मोक्षमार्ग में चलने के निमित्त बने उसे नायक कहते हैं। तो ये योगीश्वर शिवगति के नायक हैं। इन्होंने मोक्ष की गली देखी है इसलिए वे निर्विघ्न होकर उस गली से चल रहे हैं। जैसे यहाँ जिन्होंने जो रास्ता देखा हो वे वहाँ नि:शंक होकर बढ़ते चले जाते हैं। इन योगीश्वरों ने मुक्तिमंदिर की गली देखी है सो ये चल रहे हैं। और जो लोग मुक्ति के अभिलाषी हैं वे इन योगीश्वरों के उपदेश के द्वारा उनकी सेवा करते हुए उनके पीछे चलते रहते हैं। तो ये योगीश्वर मोक्षमार्ग के नायक हैं, ऐसे मोक्षमार्ग के नायक को हमारा मन, वचन, काय से वन्दन हो।

श्लोक 15

उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे य घोरतवे।

वंदामि तवमहंते तवसंजमइड्ढिंजुत्ते।।15।।

तपस्वी योगियों का अभिवन्दन- जो उग्रतप के धारक हैं, बड़े कठिन जो व्रतों के धारक हैं, जैसे एक उपवास करके आहार लेना, दो उपवास करके लेना, 3 उपवास करके लेना, ऐसा बढ़ाते जाते हैं तो इस तरह की प्रक्रियावों वाले, इस तरह से कठिन-कठिन अनशन आदिक जो तपश्चरण हैं ऐसे उग्र तपश्चरण करके भी जिनके शरीर की दीप्ति कम नहीं रहती प्रत्युत बढ़ती जाती है और न अपने आत्मा के किसी हितकार्यों में व आवश्यक कार्यों में हीनता आती है, ऐसे दीप्ततप वाले योगीश्वर हैं। जो तपश्चरण से खूब और तपश्चरण के द्वारा अपने अन्तरंग चैतन्यस्वरूप में भी जाते हैं, प्रताप बढ़ता रहता है, ऐसे तप्ततप योगीश्वर बड़ा तपश्चरण करके भी जिनके शरीर में हीनता नहीं आती, शीलब्रह्मचर्य आदिक गुणों में किसी भी प्रकार हीनता नहीं आती, ऐसे बड़े तपश्चरण के धारण करने वाले योगीजनों का मैं वन्दन करता हूं, जो तप और संयम के कारण आत्मसमृद्धि से संयुक्त हैं। आत्मा में अनन्त शक्ति है इसमें रंचमात्र भी आश्चर्य नहीं। जो आश्चर्योंत्पादक कार्य हैं- जैसे आकाश में गमन करना, छोटा बड़ा शरीर बनाना, पर्वतों के भीतर से विहार करना आदिक के समस्त कार्य तप और संयम से उत्पन्न होते हैं, ऐसे अनेक अतिशयों से सम्पन्न योगीश्वरों को मैं नमस्कार करता हूं।

श्लोक 16

आमोसहिए खेलोसहिए जल्लोसहिए तवसिद्धे।।

विप्पोसहीए सव्वोसहीए वंदामि तिविहेण।।16।।

सर्वौषधिरूप योगियों का अभिनन्दन- जिनके अंगमल आदिक के छूने मात्र से रोग दूर हो जाता है ऐसे योगीश्वर जिनका ध्यान तप इतना बड़ा है कि वे यदि किसी पर हाथ रख दें, किसी रोगी को छू लें तो उनके छूने मात्र से ही रोग दूर हो जाते हैं। यह बात मोहीजनों को, आत्मस्वरूप से

अपरिचित जनों को सन्देहजनक है लेकिन ऐसी ऋद्धियां हो जाना, ऐसे अतिशय हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उनके छूने मात्र से अनेक प्रकार के रोग दूर हो जाते है। उनके कफ, थूक, मल का भी स्पर्श हो जाय तो भी रोगियों का रोग दूर हो जाता है। ऐसा पवित्र आत्मा यह योगी होता है। ज्ञानयोग के धारी साधु पुरुषों के जिनके आत्मतत्त्व की विशुद्धि के प्रताप से इस शरीर के ऐसे मल भी औषधिरूप बन जाते हैं। जिन्हें आत्मस्वरूप का कुछ भान है वे अमूर्त चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व की बार बार सुध लिया करते हैं। उनमें उस आत्मतत्त्व की आराधना के कारण अतिशय उत्पन्न हो जाया करते है। जिनका पसीना भी किसी को छू जाय तो रोगियों का रोग दूर हो जाता है, ऐसे तपश्चरण में कुशल योगीश्वरों का मैं वन्दन करता हूं। उनके शरीर की स्पर्श की हुई वायु भी रोगी के लग जाय तो रोगियों का रोग दूर हो जाता है। यद्यपि राग दूर होने में उनके पुण्य का उदय कारण है, पर जैसे औषधि सेवन करने से रोग दूर हो जाते हैं तो अंतरंग कारण तो उनके साता का उदय है लेकिन औषधि का भी निमित्त होता है इसी प्रकार यद्यपि उन रोगियों के रोग दूर होने में उनके साता का उदय ही कारण है लेकिन इन योगीश्वरों का स्पर्श, इनका मल, इनके शरीर का पसीना आदिक निमित्त हो जाते हैं तो ऐसे परमपावन योगीश्वरों को मैं मन, वचन, काय से वन्दन करता हूं।

श्लोक 17

अभय महावीरसप्पि सवीए अक्खिणमहाणसे वंदे।

मणवलिवचवलिकायवलिणो य वंदामि तिविहेण।।17।।

आहारातिशय ऋद्धिसम्पन्नयोगियों का वन्दन- तपश्चरण के योग से ऐसी समृद्धि जग जाती है कि यदि विषमिश्रित भोजन भी किसी के द्वारा इन योगीश्वरों के हाथ में आ जाय तो वह भी अमृतरूप परिणम जाता है। जितने ये अन्य देवों में श्रृंगार विशेषण आदिक लोक में माने जा रहे हैं इन सबके कुछ मर्म हैं। लोक प्रसिद्धि है कि महादेव ने विष पिया और वह अमृत बन गया। वे महादेव वे योगिराज ही तो हैं। ये महादेव भी पहिले निर्ग्रन्थ मुनि ही तो थे, इनमें अनेक अतिशय भी उत्पन्न हो गए थे, दशम विद्यानुवाद सिद्ध कर रहे थे उस समय विद्या में मोहित होकर ये आगे न बढ़ सके, किन्तु अतिशय कुछ बढ़ा चढ़ा हो गया था। ऐसा भी अतिशय योगियों में हो जाता है कि विष मिश्रित भोजन भी यदि इन योगियों के हाथ में आ जाय तो वह अमृत बन जाता है। कोई कडुवा

भी भोजन हो तो उन योगीजनों के हाथ पर आने पर ही मधुर हो जायेगा, रूखा भी भोजन हो और वह इन योगीश्वरों के हाथ पर आ जाय तो दूध घी आदिक की तरह मधुर बन जाता है। तो यह बात अत्युक्ति वाली नहीं है। आत्मदर्शन की धुनि रखने वाले नाना परिषह उपसर्गों पर विजय पाने वाले योगियों के विशुद्धदृष्टि होने के कारण तपश्चरण में इतना अतिशय हो जाता है कि ये घृतरस आदिक संयुक्त पदार्थ बन जाते हैं, यह आश्चर्य की बात नहीं है। कुछ भावों से भी ऐसी बात बन जाती है। जब भाव निर्मल हो और भक्तिपूर्वक इन्हीं योगिराजों को आहारदान किया जा रहा हो तो भावों की निर्मलता समताभाव के कारण और विशेषभक्ति के कारण भोजन रूखा हो तो भी बहुत मीठा मालूम देता है। यदि कोई रूखा सूखा भोजन हो तो वह भी उन योगियों के हाथ में आने से घी दूध आदिक की भाँति स्वादिष्ट और शक्तिसम्पन्न हो जाता है। जिन योगीश्वरों की इतनी महिमा है यह महिमा अन्तरंग सामर्थ्य को बताने वाली है, कहीं ये इस कारण वंदनीय नहीं हैं कि ये भोजन करते हैं तो घी दूध जैसा स्वाद आने लगता है। ऐसे अतिशय जिस बल पर हुए हैं उस आन्तरिक तपश्चरण सत्य ज्ञान योग की वन्दना की जा रही है। ये योगीश्वर अक्षीण महान् ऋद्धि से सम्पन्न हैं। जिस रसोई में ये योगीश्वर आहार कर लें उस रसोई का आहार कितने ही लोग कर जायें पर कम नहीं होता। ऐसे अक्षीण महान् ऋद्धि के धारी योगीश्वरों की मैं वन्दना करता हूं।

योगवलातिशयसम्पन्न योगियों का वन्दन- ये योगीश्वर दिव्यव्यन्जनों द्वारा वन्दनीय होते हैं। मनोबल इतना बढ़ा है कि समस्त द्वादशांग के अर्थ का अन्तर्मुहूर्त में ही चिन्तवन कर जाते हैं। द्वादशांगश्रुत बहुत विस्तृत है। जितने आज शास्त्र पाये जा रहे हैं धर्मसम्बन्धी वे सब शास्त्र किसी एक ही अंग के बराबरी नहीं कर पाते हैं। एक पद में हजारों लाखों तो श्लोक समा जाते हैं। जो पद का प्रमाण है और ऐसे-ऐसे करोड़ों पदों का एक-एक अंग एक-एक पूर्व होता है। तो आप अन्दाज कर सकेंगे कि 11 अंग 14 पूर्व अन्य भी 12 वें अंग के भेद और अन्तर्बाह्य इन सब श्रुतों का प्रकरण कितना बड़ा है लेकिन इन समस्त श्रुतों का चिन्तन अन्तर्मुहूर्त में कर लें ऐसा मनोबल योगियों को प्राप्त होता है, वचनबल भी इतना महान् है कि उस समस्त श्रुत को अन्तर्मुहूर्त में बोल लें। बोल लेंगे पर वह अतिगूढ़ध्वनि है। जैसे कोई पुरूष किसी स्तवन को एक घंटे में पढ़ता है तो कोई आध घंटे में ही पढ़ ले कोई 15 मिनट में ही पढ़े और यदि वचनों से नहीं बल्कि अन्तर्जल्प से भीतर ही भीतर कोई पढ़े तो वह कुछ ही मिनटों में पढ़ सकता है। यह तो बिना ऋद्धि वालों की बात है, जिन्हें वचनबल की ऋद्धि प्राप्त हुई है वे समस्त द्वादशांग को अन्तर्मुहूर्त में कह सकते हैं। कुछ अन्दाजा भी अपने में बना सकते। आप जो विनती पढ़ते हैं उसे जरा जोर से खूब राग में पढ़े तो काफी समय लगता है, यदि उसे बिना राग के धीरे-धीरे पढ़े तो कुछ कम समय लगता है, यदि मन ही मन में पढ़े तो बहुत ही कम समय लगता है। तो फिर जो मनोबल वचनबल आदि ऋद्धि के धारी

योगीश्वर हैं वे तो समस्त द्वादशांग को अन्तर्मुहूर्त में बोल लेते हैं। उन योगीश्वरों के कायबल इतना प्रकट है कि बड़े-बड़े चक्रियों की सेना को भी परास्त कर दें, पर वे योगी अपने कायबल का प्रयोग नहीं करते; कुछ प्रयोजन ही नहीं है अपने कायबल का प्रयोग करने का। उन योगीश्वरों के इतना कायबल प्रकट हुआ है कि बड़े-बड़े चक्रवर्तियों की सेना को भी परास्त कर दें ऐसे तीन योगों के बलऋद्धि से सम्पन्न योगीश्वरों की मैं मन, वचन, काय की संभालकर वन्दना करता हूं।

श्लोक 18

वरकुट्ठबीयबुद्धि पदणुा सारीय मिण्णसोदारे।

उग्गहईहसमत्थे सुत्तत्थविसादे वंदे ।।18।।

कोष्ठऋद्धि एवं बीजऋद्धि के धारक योगियों का वन्दन- जिनको कोष्ठबुद्धि की ऋद्धि प्राप्त हुई है, जैसे कोठे में जितना धान भर दिया, ताला लगा दिया तो वे उतने ही धान बने रहेंगे, जब खोलो तब उतने ही निकलेंगे, इसी प्रकार जिसने जितना ज्ञानार्जन किया है जितना ज्ञान प्राप्त हुआ है उससे कम न होगा। कितने ही वर्ष व्यतीत हो लें पर ज्ञान में कमी न आ सकेगी, ऐसी ऋद्धि को कोष्ठस्यधान्योपम ऋद्धि कहते हैं। अभी हम आप कुछ भी अध्ययन करें एक दो वर्ष ही उसका अभ्यास छोड़ देने पर कमी आ जाती है पर कोष्ठऋद्धिसम्पन्न योगीश्वरों के जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें कभी कमी नहीं आ सकती है, जिसके बीजऋद्धि उत्पन्न हुई है, जितना वह ज्ञान अर्जित करता है उससे कई गुना उसका ज्ञान कुन्जीरूप से बढ़ता रहता है। जैसे आजकल कुन्जीरूप पठन होता है तो जो कुछ पढ़ा दिया गया उसके बाद कुन्जी से बहुत से अपठित विषयों का भी अर्थ लगाया जा सकता है, इसी प्रकार जिनको बीजऋद्धि उत्पन्न होती है वे जो कुछ सीखते हैं उससे उनका ज्ञान कम नहीं होता बल्कि कुन्जीरूप बढ़ता रहता है, ऐसे बीजऋद्धिधारी योगीश्वरों की मैं वन्दना करता हूं।

पदानुसारी भिन्नश्रोतृत्व सूत्रार्थऋद्धि के धारक योगियों का अभिवन्दन- एक पदानुसारी ऋद्धि होती है। उस श्रुत में किसी भी बीच की जगह का कोई पद बोल दिया जाय तो वे आगे और पीछे के पदों को भी जान जाते हैं। जैसे परीक्षाओं में कभी ऐसा प्रश्न आता कि श्लोक का अन्तिम चरण या मध्य का या प्रारम्भ का चरण बोल दिया और उस पद को पूरा करने के लिए कह दिया तो उसके पूर्व और उत्तर पद की पूर्ति कर दी जाती है, ऐसे ही वे योगीश्वर किसी जगह का कोई पद बोल दिया

जाय तो वे उसके आगे पीछे के पदों को सारे प्रकरणों को जान जाते हैं ऐसी पदानुसारी ऋद्धि उन योगीश्वरों में होती है, ऐसे ऋद्धिधारक योगीश्वरों का मैं वन्दन करता हूं। एक भिन्न श्रोतृत्व की बुद्धि होती है। चाहे कहीं लाखों आदमियों का जमघट हो, चाहे किसी चक्रवर्ती का कटक ही क्यों न हो, वे सभी लोग शब्द बोल रहे हों, पशु-पक्षी भी बहुत-बहुत बोल रहे हों पर ऐसे कोलाहल में भी एक-एक व्यक्ति के एक-एक जीव के शब्दों को भिन्न-भिन्न समझ लेना, सुन लेना, यह है एक ऋद्धि, ऐसी भिन्न-भिन्न परख कर लेने वाले पैनी बुद्धिसहित योगीश्वरों को मैं वन्दन करता हूं। वस्तुभाव के सम्बन्ध में जिनका ज्ञान उत्कृष्ट है, जो सूत्रों के अर्थ में निपुण हैं, अनेक सूत्र होते हैं जिनमें विभिन्न अर्थ बसे होते हैं, उनके यथार्थ अर्थ के लगाने में जिनकी निपुणता है ऐसे सूत्रार्थविशारद योगीश्वरों का मैं वन्दन करता हूं।

श्लोक 19

आभिणिवोहियसुदओहिणणिमणणाणिसब्बणाणि।

वंदे जगप्पदोवे पग्चक्खपरोक्खणाणी य।।19।।

विशुद्धवृद्ध आभिनिवोधिक ज्ञान के धारक योगियों का अभिवन्दन-इसमें ज्ञानसम्पन्न योगीश्वरों को नमस्कार किया गया है। योगी आभिनिबोधिकज्ञान के स्वामी हैं ऐसे योगीश्वर होते हैं कि जिन्हें बहुत पदार्थों का ज्ञान हो, कोई ज्ञानाभ्यास नहीं करना पड़ता। यद्यपि आभिनिबोधिकज्ञान इन्द्रियजन्य है लेकिन सामर्थ्य ऐसी प्रकट होती है कि इसके थोडे व्यापार से बहुत से पदार्थों का बोध कर लेते हैं इसका नाम आभिनिबोधिक मतिज्ञान है। आभिनिबोधिक बड़ा उत्तम शब्द है। एक मतिज्ञान तो आभिनिबोधिक का एक भेद है। जैसे बताया है मतिस्मृति संज्ञा चिन्ता, आभिनिबोध, ये सब मतिज्ञान के अनर्थान्तर शब्द हैं, अर्थात् मतिस्मृति आदिक मतिज्ञान के भेद हैं, तो जिनके ये सब मतिस्मृति स्मरण आदिक भेद हैं, उसका शुद्ध नाम है आभिनिबोधिक अर्थात् अभि और नि की पद्धति से जहां बोध होता है उसे आभिनिबोधिक कहते हैं। जो चक्षु इन्द्रिय द्वारा जाना जाता है वह चक्षुइन्द्रिय से ही जाना जाय, जो जिस इन्द्रिय का विषय है वह पदार्थ उस इन्द्रिय से ही जाना जाय ऐसा नियम जहां पड़ा है उसे नियमित ज्ञान कहते हैं और जो निमित्तनैमित्तिक पद्धति से जिस सन्निधान की आवश्यकता होती है ऐसे सन्निधान रूप अभिमुखता जहां इन्द्रिय और विषय की होती है उसे कहते हैं अभिमुख से उत्पन्न हुआ ज्ञान। तो अभिमुख और नियमित पदार्थ का जहां बोध होता है उसे आभिनिबोधिक ज्ञान कहते है।

विशुद्ध वृद्ध श्रुतज्ञान के धारक योगियों का अभिवन्दन- आभिनिबोधिक ज्ञान जाने हुए पदार्थ में फिर तर्कवितर्क द्वारा अन्यधर्मों का जो चिन्तन किया जाता है उसे कहते हैं श्रुतज्ञान। जैसे घड़ी को आँखों से देखा तो जो देखने में आया वह तो हुआ मतिज्ञान और उसके सम्बन्ध में यह जाना कि यह घड़ी है, यह आकार है, इसमें जो भी और चिन्तन चलते हैं वे हुए श्रुतज्ञान। बल्कि यह घड़ी सफेद है ऐसा जाना तो वह ज्ञान भी श्रुतज्ञान है। इसी को पहिले जाना, मगर जाना भर, यह सफेद है यह विकल्प न हो तब तो है आभिनिबोधिक का रूप और इतना भी विकल्प हो कि यह सफेद है तो वह श्रुतज्ञान बन जाता है। यदि इस ही घड़ी को कोई बकरी देखे तो उस बकरी ने जो जाना वह तो मतिज्ञान है, पर यह सफेद है, ऐसा उसने शायद न सोचा होगा या और ढंग से सोचा होगा वह है उसका श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान से सम्पन्न योगीश्वरों का मैं वन्दन करता हूं, जिनका यह ज्ञान श्रुत के सम्बन्ध में बेरोकटोक चलता रहता है। यहां साधुवों की भक्ति की जा रही है। साधुवों का दूसरा नाम है योग। योगी पुरुषों के ज्ञान सच्चा रहता है। योगियों के मिथ्याज्ञान नहीं होता, तो वे सच्चे ज्ञान 5 प्रकार के हैं,- आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यायज्ञान और केवलज्ञान। ये 5 प्रकार के ज्ञान के विकास हैं। जहां इन्द्रिय और मन से पदार्थों को जाना जाता है उसका नाम तो है मतिज्ञान और मतिज्ञान से जानकर फिर उसमें कुछ और विशेष जानना उसका नाम है श्रुतज्ञान। जैसे आँखों से देखा और देखते ही जान गए वह तो है मतिज्ञान, फिर उसके बारे में जानना कि यह काला है, यह नीला है ऐसे आकार का है, कहां की बनी है, ये सब श्रुतज्ञान कहलाते हैं।

अवधिज्ञानसम्पन्न योगियों का अभिवन्दन- तीसरा ज्ञान है अवधिज्ञान।

अवधिज्ञान की बात शास्त्रों में सुनने को मिलती है कि फलाने मुनि ने फलाने के पूर्वभव की बातें बतायीं। तो अवधिज्ञान आगे और पीछे दोनों की बातें जानता है, दूर की बात जानता है, नीचे की बात जानता है, ऊपर की बात जानता है, समस्त दिशा की बात जानता है, मगर जानता है म्याद लेकर, पूरब में इतनी दूर तक जाने, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण में इतनी इतनी दूर तक जाने, यों सीमा पड़ी रहती है, लेकिन मोटे तौर से यह जान लो कि अवधिज्ञान नीचे की बातें ज्यादा दूर तक की जानता है, ऊपर की बातें कम दूर तक की जानता है। जैसे मान लो ऊपर की बात एक लाख कोश की जाने तो नीचे की बात अरबों कोशों की जानता है। ऊपर के देव ऊपर की बातें तो बहुत कम दूर की जानते हैं मगर नीचे नरकों तक की बातें जानते हैं, तो अवधिज्ञान से रूपी पदार्थ आत्मशक्ति से बिना इन्द्रिय, मन की सहायता से जान लिया जाता है। कोई पूछे कि मैं पहिले क्या था तो अवधिज्ञानी साधु पिछले भव की बातें बता देगा। एक शुद्ध अमूर्त आत्मा हो, आकाश हों, कोईसा भी पदार्थ हो, परमार्थ अमूर्त पदार्थ की बात अवधिज्ञान नहीं जान सकता। उसे तो केवलज्ञान

जानेगा। दूसरे के आत्मा को अथवा आकाशदीप पर अमूर्त पदार्थों को अवधिज्ञान नहीं जान सकता है। तो ऐसे अवधिज्ञान के धारी जो योगी है उनको हमारा नमस्कार हो।

मन:पर्ययज्ञानसम्पन्न योगियों का अभिवन्दन- चौथे ज्ञान का नाम है मन:पर्ययज्ञान, याने तपश्चरण करके उन योगियों में ऐसा अतिशय प्रकट हुआ है कि दूसरे के मन की अत्यन्त सूक्ष्म बातों को भी वे जान लेते हैं। यह पुरुष क्या सोच रहा है, कितनी दूर की बात, कितने पहिले की बात, कितने आगे की बात विचार रहा है, इन सब बातों को मन:पर्ययज्ञानी योगी जान जाते हैं। ये सब ज्ञान के विकास हैं। हम उन योगियों की चर्चा सुनकर थोड़ा यह ध्यान में लावें कि जैसा मेरा आत्मा है वैसा ही इन योगियों का आत्मा है। जाति में कुछ अन्तर नहीं है जो चेतन हम हैं सो चेतन ये योगीश्वर हैं। ये योगीश्वर उच्चज्ञान के विकास के अधिकारी हो गए, हम आप लोग विषयकषाय के साधनों में पड़े हैं, उनकी अटक लगी है इसी वजह से हम आप ज्ञान का उच्चविकास नहीं कर पाते। पर यह विषयकषायों की अटक हम आपको क्या काम देगी? यह परिजनों का स्नेह, यह धन वैभव की प्रीति यह विषयकषायों की रति, इनसे हम आपका गुजारा नहीं चल सकता है। आखिर ये सब छूटेंगे, बुढापा आयेगा, फिर मरण अवश्य होगा, फिर आगे क्या होगा, सो तो बतावो? यदि आप कहें के बुढापे के बाद फिर कहीं जाकर बच्चे बनेंगे तो भाई इस भव के बच्चे तो न रहे, यदि चूहा बिल्ली आदिक के बच्चे हो गए तो फिर क्या होगा? अथवा कीट मकौड़े हो गए तो फिर क्या होगा? अथवा मनुष्य बच्चा भी हो गए तो शैथिल्य अज्ञान तो बालवत् ही होंगे, इससे इस शेष रही जिन्दगी से कुछ लाभ उठा लें। जो बात इन योगियों में है वही बात हम आपमें है। फर्क इतना पड़ गया कि हम आप तो इन विषयकषायों के प्रेमी हो गए और उन योगियों ने इन विषयकषायों में लात मारी, वे इन विषयकषायों की ओर दृष्टि नहीं करते, उनका ज्ञान अत्यन्त स्वच्छ हो गया है और उनमें एक ऐसा अतिशय प्रकट हुआ कि अत्यन्त शान्त चित्त रहते हैं और यहां हम आप लोग अशान्त हैं।

विपुलमतिमन:पर्ययज्ञानी की तद्भवमोक्षगामिता का नियम- मन:पर्ययज्ञान दो तरह के होते हैं- एक ऋजुमन:पर्ययज्ञान और एक विपुलमन:पर्ययज्ञान। ऋजुमन:पर्ययज्ञान दूसरे के मन की सीधी बातों को जान जाता है। यदि वह दूसरा पुरुष मायाचारपूर्ण विचार करे तो उसके मन की बातों को ऋजुमन:पर्ययज्ञानी नहीं जान सकता। जैसे किसी को किसी के प्रति है तो हत्या करने का भाव, पर दिखावे में उससे बड़ा स्नेह दिखाता है, तो ऐसे मायाचारपूर्ण भावों को ऋजुमन:पर्ययज्ञानी नहीं जान सकता। लेकिन विपुलमन:पर्ययज्ञानी दूसरे के हर प्रकार के विचारों का ज्ञान कर लेता है। यह विपुलमन:पर्ययज्ञान इतना ऊँचा ज्ञान है कि दूसरे के मन की कठिन से कठिन बात भी जान लेता है। यह बड़ा निर्मल ज्ञान है। उसके बाद केवल ज्ञान होता है। अवधिज्ञान भी जैसे तीन तरह के होते

हैं- एक देशावधिज्ञान, दूसरा सर्वावधिज्ञान और तीसरा परमावधिज्ञान। सर्वावधिज्ञान और परमावधि ज्ञान हो तो नियम से मोक्ष हो जाता है। इसी प्रकार जिसके विपुलमति मन:पर्ययज्ञान हो नियम से वह उसी भव से मोक्ष जावेगा।

केवलज्ञानी परमयोगेश्वराधिपति का अभिवन्दन- अब 5 वां ज्ञान आता है केवलज्ञान। यह सबसे ऊँचा ज्ञान है। जिस भगवान को हम पूजते हैं वह केवलज्ञानी हैं। केवलज्ञानी उसे कहते हैं जो तीन लोक तीन काल की समस्त बातों को यथार्थ जान जाय। इस आत्मा में ज्ञान तो सबके उतना ही है जितना कि प्रभु में है। शक्ति देखो तो सबमें सर्वज्ञता की है, लेकिन जब हमारा काम ही विषय सम्बन्धी है, कषायों का आवरण है तो यह ज्ञान ढका हुआ है। प्रकट नहीं हो पाता। ये कषायें मिटें, मोह मिटे तो ज्ञान प्रकट हो। अब आप सोचिये कि आपको प्रभु बनना है या संसार में रुलना है। संसार में रुलने वाले तो हैं अनगिनते तरह के और मोक्ष पाने वाले हैं सब एक तरह के। सबका एकसा ज्ञान है, एकसा आनन्द है, एकसी बात है। और संसारी जीवों में देखो- किसी के कैसी कषाय है, किसी के कैसी है, सबकी अपनी-अपनी बात है। पर्यायें भी तो अनगिनते हैं। वृक्ष, पृथ्वी, जल, वायु अग्नि, कीड़ा मकोड़ा, पशु पक्षी, देव, नारकी, मनुष्य आदिक अनगिनते तरह के हैं और ये भी अपने-अपने में अनगिनते तरह के हैं। तो ये सब कई प्रकार के दु:ख भोगते हैं। तो दो बातें हैं संसार में- रुलना और मोक्ष पान। इन दो बातों में तुम्हें क्या मंजूर है? जो भी आप चाहेंगे सो मिल जायेगा, पर दिल से चाहा जाय तो यह बात होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। आत्मा में यह रुचि हो जाय कि मुझे तो संसारमें नहीं रुलना है, मोक्ष पाना है तो वह जरूर मोक्ष पा लेगा। मोक्ष का स्वरूप जान लें और संसार का स्वरूप जान लें और इनका अन्तर समझ लें कि संसार तो इसका नाम है और मोक्ष इस ज्ञानानन्द के विकास का नाम है और उसमें रुचि हो जायेगी तो नियम से मुक्ति प्राप्त होगी जहां केवलज्ञान के द्वारा विशद सकल सत् जाना जाता है सदा को।

परमलाभ के उपाय की अरुचि पर विषाद- देखो तो सर्वाधिक बड़ी समृद्धि का लाभ हम आपको केवल भावों से मिलता है, कोई कठिनाई नहीं है, तो उसमें तो रुचि न जाय और विषयकषायें में ही रमते रहें तो फिर उससे उत्पन्न दु:ख कोई दूसरा तो न भोगने आयेगा। लेकिन हम आप दु:ख भी भोगते जाते हैं और उन्हीं दु:खद कार्यों में लगते भी जाते हैं। ऐसी हालत समस्त संसारी जीवों की है। कैसी शरीर में फंसे रहने में आफत है? कहां तो यह प्रभु के समान ज्ञानानन्द वाला आत्मा, जो कि स्वतंत्र रहे, सुखी रहे, निर्विकल्प रहे, किसी प्रकार का क्लेश ही जहां नहीं है ऐसा विशुद्ध ज्ञानप्रकाश रहा करे, और कहां यह देह में फँसा है, बड़े क्लेश भोग रहा है। यह शरीर हाड़, मांस, चाम खून, पीप, नाक, मल, मूत्रादिक महा अपवित्र चीजों का पुतला है, ऐसे महा

अपवित्र शरीरों में यह जीव फंसा हुआ है और बड़े बड़े क्लेश सहन कर रहा है। भूख प्यास की वेदनायें भी इस शरीर के कारण हैं। उसी प्रसंग में चूँकि शरीर से मोह है इसलिए रसों के स्वाद में यह जीव आसक्त हो जाता है और अपने प्रभु की सुध भी भूल जाता है। तो बड़ी विपत्ति में पड़ा है यह जीव। सम्मान अपमान के दु:ख भी यह जीव इसी शरीर में बँधे होने के कारण सहन करता है। यद्यपि अपमान है अच्छी चीज, अप हो गया है मान जिसका उसे अपमान कहते हैं। अप के मायने है नष्ट होना। तो जिसका मान बिल्कुल नष्ट हो गया, भगवान बन गया उसका नाम है अपमान, पर इस जीव ने यह बुद्धि की कि जितना ऊँचा मान सम्पन्न मैं चाहता था उतना नहीं प्राप्त हो सका, उसका नाम अपमान मानता है। तो इस अपमान के क्लेश का कारण भी यह शरीर है। इसी प्रकार ठंड, गर्मी, नाते रिश्ते, कुटुम्ब परिजन आदिक के समस्त प्रकार के क्लेशों का कारण यह शरीर है। तो इन शरीरों में बँधा होने के कारण यह जीव सदा दु:ख भोगता रहता है। जो जीव अपने से बिल्कुल भिन्न हैं उन्हें भी अपना मानकर उनसे प्रीति करते, कुछ समय तक तो परस्पर में प्रीति रहती हैं पर थोडे ही समय बाद वह प्रीति खत्म हो जाती है और एक दूसरे के क्लेश के कारण बने रहा करते हैं। जरा-जरासी बातों में अनेक प्रकार की खटपटें, अनेक प्रकार के विकल्प चलते रहते हैं जिससे यह जीव दु:खी रहता है। तो ये सारे दु:ख इस शरीर में बंधे होने के कारण ही इस जीव को भोगने पड़ते हैं।

अनर्थमूल शरीर की रुचि के कारण श्रेयोलाभ की अरुचि- यह शरीर समस्त अनर्थों की जड है, लेकिन उसी शरीर का इतना आदर रखते कि अपने शरीर को तो खूब आराम से रचाते और दूसरों के प्रति सेवा का भाव भी नहीं जगता। जो अपने घर के लोग हैं उनके यदि कोई प्रकार की शारीरिक वेदना हो जाय तो कहो उनके पीछे बड़ी हैरानी उठा लें पर अन्य लोगों के प्रति जरा भी दया का भाव नहीं उमड़ता। समस्त जीवों में जो यह छाँट कर ली कि ये इतने लोग तो मेरे हैं बाकी सब गैर हैं तो क्या यह जीव पर कम विपदा है? तो ये जीव इन विपदाओं को भोगते भी जाते हैं और इनमें ही चिपटते जाते हैं। बहुत बूढे हो गए, नाती पोते भी बहुत तंग करते, उस बूढे के सिर पर लदते, मूँछ पटाते, यदि कोई कहे कि अरे बाबा जी तुम क्यों बेकार में कष्ट सह रहे हो, अमुक आश्रम में रहो, अमुक त्यागियों के संग में रहो तो फिर ये नाती पोते तुम्हें हैरान न कर सकेंगे, तो वह बूढा यही जवाब देता है कि तुम कौन आ गए हमें बहकाने के लिए? अरे ये हमें चाहे जितना हैरान करें, पर ये हमारे नाती पोते ही रहेंगे और हम इनके बब्बा ही कहलायेंगे। तो ऐसा मान रखा है नाता रिश्ता कि बिल्कुल सच मालूम होता है। तो ये जीव जिन बातों से दु:खी भी होते जाते हैं उन्हीं बातों को छोड़ना भी नहीं चाहते। ऐसा मोह लगा है, ऐसी कषाय लगी है जिसकी वजह से हम आपका स्वरूप भगवान की तरह होने पर भी अपने स्वरूप का विकास नहीं कर पाते।

अब मोक्ष पाना है कि संसार में रुलना है- इन दो बातों का विचार करना है। मोक्ष में तो है अनन्त आनन्द ही आनन्द, क्योंकि मोक्ष हो गया, कर्म दूर हो गए, अब शरीर न मिलेंगे, अब कर्म न चिपकेंगे, निरन्तर सर्वज्ञ रहेंगे और अनन्त आनन्द वाले रहेंगे बताओ यह स्थिति पसंद है या मोह करके संसार की विधि बनाने की बात पसंद है? एक बार तो सभी कोई कह देंगे कि मोक्ष पाने की बात अच्छी है, भगवान होने की बात अच्छी है किन्तु उसका प्रयोग करने का जब कुछ प्रारम्भ करेंगे तो वहाँ ये मोही जीव फिसल जाते हैं। सोचते हैं कि क्या घर में धर्म नहीं बनता। घर में रहकर भी ऊँचे ऊँचे धर्म पाल लिए जाते हैं। बाद में बार बार फिसल जाते है। मोक्ष जैसी ऊँची स्थिति पाने की बात मन में नहीं आ पाती।

केवलज्ञानी प्रभु की सभक्ति वन्दना- जिन प्रभु की हम आप पूजा करते हैं उन्होंने कितनी उच्च स्थिति प्राप्त की है, उन प्रभु का पूजन करते समय इस बात का चिन्तन करें कि धन्य हैं ये प्रभु, इन्होंने कैसी उच्च स्थिति प्राप्त की है। हमको भी इनकी ही जैसी स्थिति प्राप्त करनी है। यदि ऐसा चिन्तन किया जाय तो वह तो वास्तविक भक्ति हुई और यदि अपने परिवार के सुखी रखने के लिए, अर्थ लाभ के लिए, परिजनों के खुश रखने के लिए भगवान की भक्ति की जा रही है तो वह प्रभु की वास्तविक भक्ति नहीं कहलाती। ये प्रभु हैं केवलज्ञानी। केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक को उन्होंने जान लिया है। ऐसे ही केवलज्ञान के धारण करने वाले योगियों को हमारा नमस्कार हो। यद्यपि केवलज्ञानी योगी का नाम अरहंत प्रभु है लेकिन वे भी योगी कहलाते हैं। जहां साधुवों के 5 भेद बताये हैं- पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। तो स्नातक नाम है अरहंत का। साधुवों के भेद में उन्हें योगी कह दिया तो वे परमयोगी हैं। जिन्होंने अपने आत्मस्वरूप में योग किया है, जोड़ किया है उपयोग को ऐसा एक रस लगा दिया है कि केवलज्ञान हो गया है उन्हें परमयोगी भी कहते हैं और अरहंत भी कहते हैं। ये सब योगी जगत को जानने के लिए प्रदीप के समान हैं, जैसे दीप सबको प्रकाशित करता है ऐसे ही यह योगी समस्त पदार्थों को यथार्थ स्पष्ट जानते हैं।

आत्मनिर्णय में ही शान्तिमार्ग की प्राप्ति- भैया मैं क्या हूं और जगत क्या है? इस निर्णय में ही शान्ति का मार्ग पड़ा है। यह निर्णय सोच लो, है या नहीं। यदि वह निर्णय नहीं है तब बेकार है जिन्दगी। उन परिजनों के मोह से लाभ क्या मिलेगा? विकल्प किए जा रहे, अपनी बुद्धि खो रहे, अपनी जिन्दगी भी खो रहे, लाभ कुछ नहीं मिल रहा। लाभ इसी निर्णय में है और ऐसा ज्ञान बनाने में है कि मुझे तो आत्मलाभ लेना है, गुप्त ही गुप्त, कोई मत जानो मुझे, क्यों किसी को जानना, कोई यदि मेरा नाम लेता है, मेरी प्रशंसा करता है तो यह मैं स्वयं अपनी सुध खोकर अपने से चिगकर विकल्पजाल में उलझ जाता हूं, जहाँ तत्त्व कुछ नहीं, सार कुछ नहीं। इन मोही जीवों ने पर्यायबुद्धि

का कुछ परिचय किया है, कुछ मेरा नाम गाया है, कुछ मेरी नामवरी बनायी है तो असार बातें हैं, उन असार बातों को सुनकर, देखकर, समझकर हम अपने स्वरूप से चिगकर अपने सारभूत ऐश्वर्य का विनाश कर डालते हैं। तो उसमें तत्त्व हमें क्या मिला? ऐसी स्थिति बनती है तो बहुत ही उत्तम है कि मैं किसी के परिचय में न आऊँ, किसी का परिचय ही न करूँ। और अगर होती है जानकारी तो वहाँ बल बढ़ाना चाहिये कि जान गए लोग तो किसे जान गए? इस शरीर को जान गए, मेरे को तो नहीं जान गए। यदि कोई लोग भला कह रहे हैं, मेरी कुछ प्रशंसा कर रहे हैं तो वास्तव में वे मेरी प्रशंसा नहीं कर रहे बल्कि उनकी दृष्टि इस शरीर पर है, इस शरीर की वे प्रशंसा कर रहे। यह शरीर मैं हूं नहीं। ये लोग तो इस शरीर की (परपदार्थ की) दृष्टि रखकर कुछ कह रहे हैं। इस प्रकार का ज्ञानबल बढायें, अगर परिचय हुआ है तो ज्ञानबल होना चाहिए और परिचय न करें, अपने में गुप्त रहें तो बहुत ही सहज ढंग से अपने आपके कल्याण की बात मिल जाती है। तो इन व्यासंगों से, इन विकल्पों से हमारा जो यह परमात्मस्वरूप है यह परमात्मस्वरूप ढक गया है। यह उघड़ रहा है इन योगियों के। इसी कारण ये योगी वंदनीय हैं। तो यों उत्कृष्टज्ञान के अधिकारी योगीश्वरों का मैं वन्दन करता हूं।

श्लोक 20

आयासतंतुजलसेढिचारणे जंघचारणे वंदे।

विउवणइड़ढिपहाणे विज्जाहरपण्णमवणे च।।20।।

अनेक चारण ऋद्धियों के धारक योगियों का अभिवन्दन- जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हैं केवल ज्ञानस्वरूप मैं हूं- इस प्रकार की जिनकी दृष्टि और धुन बन गयी है, इसी कारण जिनमें क्षमा, मार्दव आदिक दस प्रकार के धर्म उत्कृष्टरूप से प्रकट हो रहे हैं उन योगियों का ऐसा प्रताप है, ऐसा परम तपश्चरण प्रसिद्ध है कि इनमें अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न हो जाती है। अभी ऊपर के छंद में ज्ञानऋद्धि का वर्णन था। अब यहाँ अन्य ऋद्धियों की बात बता रहे हैं। ऐसी ऋद्धियाँ पैदा हो जाती हैं कि वे आकाश में विहार करने लगते हैं। कोई योगी आकाश में कदम रखकर चल रहे हैं और कोई बिना कदम रखे यों ही चल रहे हैं, ऐसी ऋद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। कोई योगी तंतुचरण ऋद्धि के धारी हैं। एक सूत पर चलते हैं, अथवा सूत पर ही क्यों, कमल की डंडी तोड़ने पर जो उसमें से अत्यन्त पतले तार निकलते हैं उन पर वे योगी चलते हैं पर वे तार टूटते नहीं। यों ही समझिये कि वे आकाश में भी चलते हैं, ऐसी ऐसी विशेष ऋद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। कुछ योगी जलचारण ऋद्धिधारी होते हैं। पानी पर चलते जायें पर पानी का स्पर्श भी न करे, ऐसे भी जलचारण ऋद्धिधारी

योगी होते हैं। कुछ योगी आकाश श्रेणियों में यों ही चले जाते हैं। कोई जंघा के बल से ही चले जाते हैं, कदम भी नहीं रखते आकाश में। जैसे कुछ लोग मानते हैं कि हनूमान जी ऐसे पहाड़ लिए हुए उड़े चले जा रहे थे, ऐसे ही वे योगी जंघा के बल से आकाश में उड़ते रहते हैं। देखिये ऐसे नाना प्रकार की ऋद्धियों के धारी योगी हैं जिनमें बुद्धिक बल भी अतिशय प्रकट हुआ है। चाहे थोड़ा पढ़े अथवा न भी कुछ पढ़े फिर भी उनका ज्ञान अपने आप विकसित होता जाता है। ऐसे अनेक प्रकार के ज्ञानों को भी जिन्होंने प्रकट किया है ऐसे योगियों की हम वन्दना करते हैं।

योगियों के योग की उपासना- योगियों की वन्दना करते समय हमें उनके योग पर अधिक ध्यान देना चाहिए। धन्य है वह योग जिसके प्रताप से ये योगी इतने उत्कृष्ट विकास वाले हैं। वे योगी क्या हैं? कि बाह्यपदार्थों से मोह छोड़कर परपदार्थों की उपेक्षा करके रागद्वेष हर्ष विषाद की परिणति में न उलझकर एक अपने सहज ज्ञानस्वरूप की आराधना करना इसका नाम है योग, जो बिल्कुल सुगम है, सीधा है। यह आत्मा खुद ही तो धर्म करने वाला है और खुद का ही ध्यान किया जाना है। तो यहाँ कुछ अन्तर तो नहीं है जो हमारे उपयोग से कुछ सरकना पडे, कुछ कहीं जाना पडे, जानने के लिए यह उपयोग ज्ञानस्वरूप है ही हमारा और ज्ञानस्वरूप को ही हमें जानना है। तो यह ज्ञानयोग की हम खुद को जान जायें, इसमें कुछ कहीं जाना नहीं, श्रम करना नहीं। एक भाव भर भी बात है। तो ज्ञान के द्वारा ज्ञान के स्वरूप को जानते रहना यह योग किया है इन योगियों ने। जिस ज्ञानयोग के प्रताप से ऐसी महिमा प्रकट हुई है, ऐसी ऋद्धि उत्पन्न हो जाती है तो इन योगियों की वन्दना करते समय हमें उस योग की महिमा पर ध्यान देना चाहिये, वह योग मेरे द्वारा भी किया जा सकता है, जैसा उन योगियों का आत्मा है ऐसा ही मेरा आत्मा है बल बढायें और इन विषयकषायों को असार जानवर इनकी उपेक्षा करें तो हम अपने ज्ञान का योग बना सकते हैं और अपने इस दुर्लभ मावनजीवन को सफल कर सकते अन्यथा तो जैसे संसार में रुलते आये वही रुलना बना रहेगा। संसार का रुलना पसंद न करें, मोक्ष पाने की बात पसंद करें और उसका ही यत्न करने का भाव रखें।

श्लोक 21

गइचउरंगुलगमणे तहेव फलफुल्लचारणे वंदे।

अणुवमतवसि महंते देवासुखंदिदे वंदे।।21।।

फलफुल्लचारणादि ऋद्धि के धारक योगियों का अभिवन्दन- सहज आत्मस्वरूप के ज्ञान और श्रद्धान तथा ज्ञायकस्वरूप ही अपने को उपयोग में बनाये रखने के उद्यम से आत्मा में ऐसा अतिशय प्रकट होता है कि अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ जग जाती हैं। पृथ्वी के ऊपर चार अंगुल रहकर गमन करें, ऐसा उनमें अतिशय हो जाता है। तपश्चरणों में अनशन आदिक तपश्चरण प्रधान हैं। बाह्य में अनशन की अधिकता और अन्तरंग में निराहारस्वभाव अविहारस्वभावी आत्मा के ज्ञानस्वभाव के रूप में ध्यान की प्रमुखता, इन दोनों आन्तरिक और बाह्यतपश्चरण के प्रताप से शरीर में अति हल्कापन आ जाता है। और फिर एक आत्मीय अतिशय प्रकट होता है कि वे फिर जब विहार करते है तो जमीन के ऊपर चार अंगुल विहार करते जाते हैं। चलते हैं इसी तरह जैसे कि कोई पृथ्वी पर चलता है। तो जिनमें हिंसा का बचाव एक अभ्यास ही हो रहा है। कोई फलचारण ऋद्धि वाले योगीश्वर हैं। जैसे पेड़ों में फल फूल लगे रहते हैं या नीचे पडे रहते हैं तो वे योगीश्वर उन पर गमन कर लें और उनको बाधा न पहुंचे, इस प्रकार की ऋद्धि इन योगियों में प्रकट हो जाती है। ये अपने शरीर को अणु बना लें, महान बना लें, अनेक प्रकार की विक्रियायें होती हैं, ऐसी ऋद्धियों से सम्पन्न योगीश्वरों का मैं वन्दन करता हूं।

देवासुरवंदित अनुपमतपस्वी योगियों का अभिवन्दन- वे योगीश्वर अनुपमतप में महान् हैं, इन योगीश्वरों को देव इन्द्र सभी वन्दन करते हैं, संसार में चूंकि सारभूत काम अन्य कुछ नहीं है और न सारभूत पदार्थ ही कहीं कुछ है, तो इन असारपदार्थों को कब तक अपना मानता रहे यह जीव? इन जीवों में से कोई बिरले ही जीव यथार्थ ज्ञानी होते ही हैं जिनको ऐसी बुद्धि जग गयी कि इस लोक में अपने आप यह मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, ऐसा अनुभव करते रहना, सिवाय इसके अन्य कुछ भी सार नहीं है। बाह्य में किससे सहायता लेना, किनमें दिल फंसाना, यहाँ कोई मेरा सुधार बिगाड़ करने वाला नहीं, किसको प्रसन्न करना, किसको क्या दिखाना, केवल मेरे लिए मैं ही ज्ञानरूप में अनुभवा हुआ सारभूत हूं अन्य कुछ नहीं, ऐसे जिनके ज्ञान विशेष जग जाता है ऐसे पुरुषों को फिर विषयों में रुचि नहीं रहती। विषय वैसे भी क्लेशकारी हैं। एकमात्र भोगने के समय जिसमें सेकेण्ड दो सेकेण्ड के ही काम रहते है उतने समय थोड़ा यह सुख महसूस करता है। बाद में तो पहिली अवस्था से भी बड़ा दु:खी हो जाता है। एक कुछ क्षणभर के सुख को छोड़ दिया जाय जिसमें आगे पीछे दु:ख लगा है और सुख के समय में भी क्षोभ बराबर लगा हुआ है। एक थोडे समय का लोभ छूट जाय और तीव्ररूचि जगे अपने को ज्ञानस्वरूप अनुभवने की। एक प्रयोगात्मक अपने ज्ञान को इस तरह बनायें कि यह मैं जाननप्रकाशभर हूं। इसे न लोग जानते हैं, न इससे कोई व्यापार करता है, ऐसा यह मैं एक गुप्त ज्ञायकस्वरूप हूं, ऐसी जिनकी रुचि हुई है, ऐसी जिनकी भावना होती है, उनको ये सब ऋद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। ऐसे पुरुषों को देव लोग, विद्वान लोग असुरजन जिनके ये ऋद्धियाँ

पैदा हुई हैं, जो वीतरागता से प्रभावित हैं वे वैराग्य की मूर्ति समता की मूर्ति शान्त इन योगीश्वरों के दर्शन करके उनके चरणों में वन्दन किया करते हैं।

श्लोक 22

जियभय जियउवसग्गे जियइंदियपरीसहे जियकसाए।

जियरायदोसमोहे जियसुह दु:खे णमंसामि।।22।।

जितभय योगियों का अभिवन्दन- इन योगीश्वरों ने भय को जीत डाला है। श्मशान भूमि में रहकर योगी तपश्चरण करते हैं। कहीं मुर्दा जल रहा है, कहीं खोपड़ी पड़ी हुई है, जहां से ये लौकिक जन निकले तो यहां भूत रहा करते हैं ऐसी शंका रखकर भय किया करते हैं, ऐसे भयानक स्थान, ऐसे जंगलों के स्थान कि जहां शेर चीता आदिक हिंसक जानवरों की बहुलता है, जैसे जंगल में पथिक लोग चलते हुए भय खायें, शस्त्र आदिक ले करके यहां से निकलें ऐसे भय के स्थानों में भी ये योगीश्वर नि:शंक होकर ठहरते हैं। ऐसे भयों के जीत लेने का कारण क्या हुआ कि उन्होंने अमर एक ज्ञानस्वरूप की ही रुचि की और उसे उपयोग के समक्ष रखकर यह अनुभव करते कि इसे तो कोई छू भी नहीं सकता, मार भी नहीं सकता। यह तो कहीं नष्ट नहीं हो सकता। यह तो यही है। भले ही यह पर शरीर वियुक्त हो जाय पर यह मैं सदा इस ही में रहता हूं, इसका कहीं वियोग सम्भव नहीं है। लोग जो मरने से घबड़ाते है वे मरण का भय नहीं करते किन्तु मोह जो बना हुआ है। उस मोह के कारण उनके डर बन गया है- हाय यह लाखों का धन कमाया यह सब यों ही छूटा जाता है। परिवारजनों से भी प्रेम बढ़ाते रहे जिनसे बड़ा प्रेम पाते रहे। इस प्रेम के आदान-प्रदान के कारण मोह दृढ़ हो गया था। सो अब वह मरने वाला पुरुष दु:ख मानता है कि हाय मेरा कुटुम्ब भी मुझसे छूटा जा रहा है। तो शरीर की भी ममता जग गयी है, इस तरह मोह की वृत्ति के कारण मरने वाले को क्लेश हो रहा है। जब वस्तुत्व पर दृष्टि पहुंचे, मैं तो यह हूं, जिसका बाहर कुछ है ही नहीं, जिसको दुनिया के लोग समझते ही नहीं। यह मैं अपने में ही रहता हूं अनादिकाल से, अपने ही स्वरूप में रहता आया हूं और अब सदा अपने स्वरूप में ही रहूंगा, ऐसे जो एक अपना ज्ञायकस्वरूप है बस इसके दर्शन की ऐसी महिमा है कि उन्हें न मरने का भय है, न भूत प्रेतों का भय है, न शेर चीतादि जानवरों का भय है। कितना दृढ़ भेदविज्ञान हैं इन योगियों का?

जितभय योगियों के दो उदाहरण- सुकुमाल मुनि का सुकुमाल शरीर जिसे गीदड़ी ने दो तीन दिन तक भक्षण किया, पैरों से लेकर जंघा तक चीर डाला, किन्तु वे मुनि एक परमज्ञानज्योतिरूप के दर्शन करते हुए प्रसन्न थे, उनको विषाद न था और कदाचित् ज्ञात भी होता हो कि यह शरीर खाया जा रहा है तो भेदविज्ञान के प्रताप से इस ढंग का ज्ञान हो रहा था कि जैसे बाहर में किसी अन्य वस्तु पर कोई आक्रमण होता है। ऐसा दृढ़तम भेदविज्ञान जिन योगियों के होता है उनको भय काहे का? सुकौशल मुनि किशोर अवस्था का ही था, जवानी भी पूरी न आ सकी और विरक्त होकर ऐसे समय विरक्त होकर कि उसकी स्त्री के गर्भ था, तो मंत्रियों ने समझाया कि बच्चा हो जाने दो, उसको उत्तराधिकारी बन जाने दो तब तुम निर्ग्रन्थ होना। लेकिन वे न माने और यह कह दिया कि जो गर्भ में संतान है उसको हमने अभी से राजतिलक कर दिया। अब राज्य का संभालना मंत्रियों का काम है। तो अब मंत्रीगण राज्यभार संभाले और जो संतान गर्भ में हैं उसको मैंने राजतिलक किया, ऐसा कहकर एक अपना पिंड बचाकर सुकौशल मुनि जंगल चले गए। जंगल में तपश्चरण कर रहे थे, वहां सुकौशल की मां आर्तध्यान से व्याघ्री हुई थी। जब देखा तो मिथ्यात्व के कारण उल्टा ही उसने स्मरण किया कि इसके ही कारण मेरी यह दुर्गति हुई है। बच्चा निर्ग्रन्थ हो गया था तो मोह में उस पर क्रोध आ जाने के कारण क्रोध में आकर व्याघ्री हुई थी सो सुकौशल की छाती में पंजा मारा, इतने पर भी सुकौशल रंच भी विचलित नहीं हुए। उसका क्या कारण था, सर्वपदार्थों से भिन्न ज्ञानमात्र अपने आपको अनुभव किए जा रहे थे। यह अनुभव जिन्होंने पाया उनका जीवन धन्य है। जीवन क्या धन्य है उनका परिणमन धन्य है, उनकी निजी दुनिया धन्य है। जिन्होंने ऐसे ज्ञानस्वरूप में अपने उपयोग का योग किया है तो ये योगीश्वर जितभय होते हैं।

भयविजयी ज्ञान- भय उन्हें होता है जिन्हें शरीर में व्यामोह होता है, किन्तु जो अपने चैतन्यस्वरूप को इस शरीर से निराला निरख रहे हैं

उन्हें किसी चीज का भय नहीं होता। उन्हें मरण का भी भय नहीं होता। वे तो समझते हैं कि यह मैं स्वयं परलोकस्वरूप हूं, परलोक की उन्हें यों चिन्ता नहीं कि वर्तमान में वे अच्छी करनी कर रहे हैं, एक शुद्ध ज्ञानवृत्ति से रह रहे हैं। वे क्यों कल्पना करें? जिसमें भव ही नहीं, जिसका स्वरूप जन्ममरण नहीं, ऐसे भवरहित, जन्ममरणरहित निजज्ञायक प्रभु की आराधना करें, यह बात कहां जमती है? जहां एक अपने आपके स्वरूप का ही अनुभव किया जा रहा है। इन योगीश्वरों को शरीर की वेदना का भय नहीं है। शरीर तो शरीर ही है, शरीर में फोड़ा फुंसी हों, उष्णता आये, किसी प्रकार का बिगाड़ हो तो वह परपरिणमनरूप ही परिणमन है, वे शरीर की ही अवस्थायें हैं। जो पुरुष शरीर का जितना लगाव रखता है वह उतनी ही वेदना का अनुभव करता है। जिसका

शरीर से लगाव नहीं है वह शरीर की वेदना का अनुभव नहीं करता। इन योगिराजों के मरण का भय नहीं। वे जानते हैं कि मैं चैतन्यस्वरूप हूं। यह चैतन्य, यह सहजसत्त्व यह सहजज्योति बस यही तो मैं हूं, यही प्राण है, इसका कहीं वियोग ही नहीं हो सकता। जो मैं अपने स्वरूपसत्त्व से हूं उसका कहां वियोग? किसी भी पदार्थ के स्वरूप का कभी वियोग नहीं होता और जो पदार्थ के स्वरूप में नहीं है वह चीज चिपक जाय या ऐसा परभाव इसमें प्रतीत हो जाय तो भी वह इसका है कहाँ? जो मेरा है वह कभी जाता नहीं बाहर। जो मेरा नहीं है वह कभी मेरे में आता नहीं है, ऐसी दृढ़ता भेदविज्ञान में जिससे उनको मरण का भय कहाँ से आयेगा? अन्य अन्य भय भी- जैसे मेरा कोई रक्षक ही नहीं, बहुत से लोग विरोधी हो रहे हैं, कोई मेरी बात का कहने वाला ही नहीं, मेरे पास ऐसा कोई सुरक्षित स्थान ही नहीं, कहीं कोई घटना न हम पर घट जाये, ऐसी कल्पनायें क्या जगायेगा जिसने अपने सहज ज्ञानस्वरूप में अपने को अनुभवने की ठानी है। दूसरी बात नहीं चाहता, अन्य बातों को, विकल्पों को अत्यन्त असार समझता है, ऐसा पुरुष किसी भी प्रकार के भय से भयभीत नहीं होता। ये योगिराज भय पर विजय पाने वाले हैं।

जितोपसर्ग योगियों का अभिवन्दन- योगिराज जितोपसर्ग हैं। कैसे भी उपसर्ग आयें उनको ये योगिराज अपने आत्मबल से सहज ही जीत लेते हैं। कोई गाली दे रहा है, अपमान कर रहा है अथवा मारपीट रहा है तो भी वे उस पर द्वेष की भावना नहीं लाते। यदि किसी दुष्ट ने, अपने कषाय के अनुकूल बर्तने में शान्ति मानने वाले ने दुर्वचन भी कह दिये तो वचन तो भाषावर्गणा के परिणमन हैं और वचनों की उत्पत्ति जिस विधि से हुई है वह है पुद्गल, पुद्गल का संयोग व वियोग। जीभ चली, ओंठ चले, शरीर के अनेक अंगों का जो संयोग वियोग होता है वह है इन वचनों का उत्पादस्रोत। आत्मा तो एक ज्ञानमूर्ति है। इस प्रसंग में जीव ने यदि कुछ किया तो अपना ज्ञान किया, विकल्प किया, इच्छा की, रागद्वेष अधिक से अधिक हो गया, पर जिस वस्तु का जो परिणमन होता है उसका फल उस ही वस्तु में हुआ करता है। निश्चयदृष्टि से देखिये- प्रत्येक जीव जो भी भाव, क्रोध का भाव करता है तो उस क्रोध का फल दूसरा नहीं भोगता, खुद को ही भोगना पड़ता है। लेकिन मोह बना कैसे है? ऐसे कि देखो इसने मेरे बिगाड़ के लिए कैसा काम किया? कोई दूसरा बिगाड़ने के लिए कुछ कर ही नहीं सकता। आत्मा भावभर बनाता है। जब विकल्पमात्र बना सकता है तो उन विकल्पों के उत्पन्न होने से जो उनके तुरन्त क्षोभ आया वही तो उसका प्रयोजन बना। फल तो उसी ने पाया है। जो जैसा भाव सोचता है वह उस भाव का तुरन्त ही फल प्राप्त कर लेता है। जिस समय जो भाव किया उस भाव में जो सुख दु:ख अथवा आनन्द समाये हैं वे उसे तुरन्त प्राप्त हो जाते हैं। तो जिन योगीश्वरों ने वस्तुस्वरूप समझा है और जिनके उपयोग में वस्तुस्वरूप स्पष्ट रहा करता है वह अपमान भरे शब्दों को सुनकर या सम्मान न हो सके- ऐसी

उपेक्षा भरी चेष्टा को निरखकर रंचमात्र भी मन में विषाद नहीं लाते। कोई मारपीट का भी उपसर्ग करे तो पुद्‌गल पुद्‌गल का संयोग हो रहा है। लाठी और शरीर का जो सम्बन्ध होता है वही तो पिटाई कहलाती है। उसमें भी उन योगियों के दृढ़ता की बुद्धि रहती है और प्रकाश रहता है कि जो होता है सो होने दो। हम यदि विकल्प करें उस परिस्थिति को हटाने का, किसी भी प्रकार का हम विकल्प करें, अपने आपके स्वरूप से चिगें तो इससे मेरे जन्ममरण की परम्परा बढ़ जायगी। एक भव छूटता है तो छूटने दो। यदि उस काल में विकल्प किया तो मैं अपना संसार बढ़ा लूँगा और संसार ही अनर्थ है, एक अमूल्य निधि को प्राप्त किए रहने के लिए उनमें इतना बड़ा बल बना हुआ है कि यदि कोई निर्बल भी उपसर्ग करे तो उसमें भी विचलित नहीं होते। ऐसे ये योगिराज उपसर्ग के विजयी हैं।

जितेन्द्रिय योगियों का अभिवन्दन- ये योगी जितेन्द्रिय हैं। इन्होंने इन्द्रिय को जीत लिया है। इन्द्रियों को कैसे जीता? इन्द्रिय से उपेक्षा करके। कहीं इन्द्रिय से भिड़ना नहीं, पकड़ना नहीं, किन्तु इन इन्द्रियों से उपेक्षा करने का नाम जितेन्द्रियपना है। इन्द्रिय जब उपभोग कहलाता है तो उस उपभोग के समय में तीन साधनों का सम्पर्क रहता है- द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और विषयभूत पदार्थ। स्पर्श, रस वाले ये विषयभूत पुद्‌गल पदार्थ ये तो आश्रय में रहते हैं- जैसे खाया, सूँघा, छुवा तो ये पुद्‌गल ही तो सारभूत हुए और यह विषय किया जा रहा है द्रव्येन्द्रिय के साधनों से। आंखों से देखा, हाथ से छुवा, जिह्वा से चखा तो द्रव्येन्द्रिय का साधन जुटाया और अनुभव किया जा रहा है भावेन्द्रिय के द्वारा। इस द्रव्येन्द्रिय के निमित्त से स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाले पदार्थों का जो ज्ञान किया जा रहा यह तो क्षायोपशमिक ज्ञान है। यह इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है भावेन्द्रिय। तो पदार्थों के उपभोग के प्रसंग में तीन साधनों से काम पड़ता है। यदि इन्द्रियविषयों का विजय करना है तो इन साधनों से उपेक्षा करनी पड़ेगी। विषय विजय का यह मूलमंत्र है। इन तीन साधनों की उपेक्षा का उपाय यह है कि इसका जो स्वरूप है उसके विपरीत अपने स्वरूप की भावना लगे। जिससे उपेक्षा करना है उससे उल्टा बनकर ही उपेक्षा की जा सकती है। तो देख लीजिए इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ भोजन आदिक जो भोगने में आ रहे हैं ये पदार्थ पदार्थ हैं, पिण्ड हैं, संग हैं, परिग्रह हैं, कुछ चीज जैसी लगती है। लेकिन यह आत्मा नि:संग है, इसमें कुछ पिण्ड नहीं नजर आता, कुछ संग नहीं नजर आता। आकाशवत् निर्लेप नि:संग हैं तो इन संगों से, परिग्रहों से, विषयों से उपेक्षा करनी है तो अपने को नि:संग अनुभव करना चाहिये। मैं इन बाह्यपदार्थों से रहित केवल ज्ञानप्रकाशमात्र एक नि:संग चैतन्यस्वरूप हूं- यह तो हुई विषयों से उपेक्षा।

अब द्रव्येन्द्रिय से इन आँख, कान आदिक इन्द्रियों से उपेक्षा करनी है तो इन्द्रिय का स्वरूप देखो, ये इन्द्रियाँ जड़ हैं, पुद्‌गल हैं। मैं पुद्‌गल का स्वामी नहीं, पुद्‌गल का स्वामी पुद्‌गल है। मैं जड़ नहीं। मैं एक चैतन्यस्वरूप हूं, तो जड़ पौद्‌गालिक इन द्रव्येन्द्रियों से विपरीत मैं चेतन हूं और चेतन का स्वामी हूं। यों अपने को चैतन्यमात्र निरखकर द्रव्येन्द्रिय से उपेक्षा की जाती है। अब करना है भावेन्द्रिय से उपेक्षा। जो इन पदार्थों के उपभोग के प्रसंग में ज्ञान उलझा रहता है, उपयोग फँसा रहता है उस ज्ञान से उपेक्षा करनी है। यह ज्ञान कहलाता है खण्डखण्ड ज्ञान। जिस विषय को हम उपभोग रहे हैं, उस विषय में हमारा ज्ञान जो उलझ रहा है वह ज्ञान का एक टुकड़ा बन गया, ज्ञान तो अखण्ड है। जाने तो समस्त लोक को जाने। यह अखण्डात्मक ज्ञान विषयभोगों के प्रसंग में टुकड़े टुकड़े रुप बन रहा है। पर यह खण्डज्ञान मैं नहीं हूं। मैं हूं अखण्डस्वरूप। तो यों अखण्डस्वरूप निजआत्मा पर दृष्टि करे तो इन खण्डज्ञानों की उपेक्षा हो जायगी। तो यों इन विषयपदार्थों से और शरीर के आँख, कान आदिक इन्द्रियों से तथा विकल्पात्मक, खण्डात्मक ज्ञानों से उपेक्षा जहां बनी रहती है और अखण्ड ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको अनुभवने की रुचि और वृत्ति रहती है ऐसे योगीश्वर वास्तविक मायने में नि:शंक होते हैं।

भोगविरक्ति की आवश्यकता- भैया ! भोग भोग में लगे रहने से पूरा तो न पड़ेगा। जीवन है, कुछ बल पाया है, कुछ बुद्धि पायी है तो ये मोहीजीव इन सबका उपभोग विषयों के भोगने में कर रहे हैं, पर ये विषयों के भोग प्रसंग इस आत्मा का जीवन नहीं निकाल सकते। तो आत्मा अविनाशी है। जैसी करनी करता है उसके अनुरूप ही यह अपनी पर्याय पाता है, परिणति पाता है। उसका गुजारा भोगों से नहीं हो सकता। भोग तो कभी छूटेंगे ही। चाहे इन भोगों को हम अपनी स्वच्छ बुद्धि से छोड़ दें या ये भोग मेरे मरण पर स्वयं छूट जायें या मेरी जीवित अवस्था में भी ये भोग स्वयं नष्ट हो जायेंगे। हर प्रकार से इन विषयभोगों का वियोग होगा ही। तब फिर ये बुद्धिमानी क्यों न कर ली जाती कि ज्ञान जगाकर इन विषयभोगों को स्वयं ही अपनी विशुद्ध ज्ञानकला के उपयोग से छोड़ दिये जायें। ये योगीश्वर समस्त भोगों से, शरीर से, संसार से विरक्त होकर ये अपने आपके चैतन्यस्वरूप का अनुभवन किया करते हैं। इस कारण ये वास्तविक जितेन्द्रिय हैं।

जितपरीषहता का जयवाद- इन योगीश्वरों ने परीषहों पर विजय प्राप्त किया है। मोही लोग, कायर लोग न भी परीषह आयें तो भी शरीर के आरामों से कुछ कमी समझकर अपने ऊपर उपसर्ग का अनुभव करते हैं। कहते हैं कि अरे हम पर तो बड़ा कष्ट है? अरे क्या कष्ट है? ज्ञानी पुरुषों की वृत्ति तो देखो कि जिन पर भयंकर परीषह भी आ पड़े। महीने-महीने भर के उपवासे, आहार के लिए निकले, अन्तराय हो गया, ऐसे कठिन परीषह जिन पर आयें उन पर भी ये योगीश्वर विजय

प्राप्त कर लेते हैं। चक्रवर्ती की पुत्री अनंगशरा तीन हजार वर्ष तक जंगल में अकेले रही, कोई हरने वाला हर कर ले गया, किसी ने उसका पीछा किया तो वह डर के मारे जंगल में छोड़ गया, पर उस अनंगशरा ने परीषह पर विजय प्राप्त की, धैर्य धारण किया, तपश्चरण में रत रही। शरीर पर वस्त्र भी न थे, किसी तरह से बलकलों से तन ढांककर अथवा यों ही सारा जीवन व्यतीत किया तो जंगल में तीन हजार वर्ष तक रहना यह कितना बड़ा परीषह है? पर ज्ञान जगा, आत्मा को निरखकर संतुष्ट रही, परीषहों पर विजय प्राप्त किया। तो हम भी जरा-जरासी बातों में घबड़ायें नहीं, जरा-जरासी वेदनाओं में घबड़ायें नहीं। जितपरीषह योगियों के योग की उपासना करें। समस्त प्रकार के परीषहों पर, उपसर्गों पर, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले योगीश्वरों को मैं वन्दन करता हूं।

जितकषाय योगियों का अभिवन्दन- पुरुषों में महापुरुष वे ही कहलाते हैं जिन्होंने अपने अलौकिक निरापद ज्ञानस्वरूप में रमने का ध्येय बनाया है, जो विषयों में रमा करते हैं वे तो तुच्छ संसारी प्राणी हैं, अज्ञान से ग्रस्त हैं, जिसमें कुछ सार नहीं, अत्यन्त भिन्न पदार्थ और जिस राग में कुछ सार भी नहीं, जो दु:ख उत्पन्न करने के लिए आया है, आत्मा के स्वभाव से विपरीत है, मायारूप है। ऐसे राग में अथवा परविषयों में मोह करना, राग करना, आकर्षण होना, ये तो सब तुच्छ काम हैं। जिस जीव के सम्यग्ज्ञान का उदय होता है, जिसने अपने आत्मा का गौरव परखा है ऐसे स्वविभव के जानने वाले योगीश्वरों को विषयों में रंच भी रुचि नहीं होती और कषायों में रंच भी लगाव नहीं होता। कषायें उत्पन्न होती हैं अपने पदानुसार, लेकिन उन कषायों से निवृत्त रहना, ऐसा विशुद्ध ज्ञान जागृत रखना कि ये कषायें मैं नहीं हूं, ये मायारूप हैं, मेरे में मेरे को बरबाद करने को उठी हैं। ऐसा जानकर उनसे लगाव न रखना, उनसे हटकर अपने ज्ञानस्वरूप की ओर ही आना यह ही जिनका पुरुषार्थ बना रहता है, ऐसे पुरुष ही महापुरुष कहलाते हैं। ये योगीश्वर जितकषाय होते हैं। इन कषायों को जीत लिया है, देखिये किसी पर विजय पाने का सभ्यतापूर्ण उपाय यह है कि उससे उपेक्षा कर दी जाय। कषाय भाव को जीतने का और क्या अर्थ है? कर्मों का उदय होता है उस काल में उसके निमित्त में ये कषायें उत्पन्न होती हैं आत्मा में, तो यह निमित्तनैमित्तिक प्रसंग की बात है। आत्मा भी इस योग्य है अभी और कषायों का उदय निमित्त भी चल रहा है तो ये कषायभाव उस योग्यता के माफिक उत्पन्न होते हैं। अब वहाँ क्या करें? उन कषायों को कैसे पकड़कर हटायें, कोई पिण्डरूप तो हैं नहीं और पिण्डरूप भी हों तो अमूर्त आत्मा उसे पकड़ सकता नहीं। तो कषायों को कैसे निवारा जाय? जैसे जहां लोक में कोई ऊधमी बालक है तो उसको हाथ पकड़कर लोग अलग हटा देते हैं उस प्रकार से हटाने योग्य ये कषायभाव नहीं हैं। इन कषायों पर विजय पाना यही है अपने स्वरूप की सुध लेकर उन कषायों से उपेक्षा कर लेना। बस यही कषायों

पर विजय पा लेने की बात है। जिस पुरुष के ऐसे सम्यग्ज्ञान का उदय हुआ है उसको यदि यह कहा जाय कि उसे इतना प्रकाश मिला है कि हजारों लाखों सूर्यों से भी अधिक है तो यह कहा जा सकता है कि यह प्रकाश अलौकिक है। तो ये योगीश्वर उस ही ज्ञानप्रकाश में रहकर अपने विशुद्ध आनन्द से तृप्त रहकर कषायों से उपेक्षा कर डालते हैं। कोई अद्‌भूत आनन्द मिले तो कषाय करने से उत्पन्न हुए कल्पित सुख की उपेक्षा की जा सकती है। तो योग्य आत्मीय विशुद्ध सुगम स्वाधीन सहज आनन्द हुआ है उसके बल से ये कषायों से उपेक्षा किया करते हैं ऐसे जितकषाय योगीश्वरों को हमारा नमस्कार हो।

जितरागद्वेषमोह योगियों का अभिवन्दन- ये प्रभु योगीश्वर रागद्वेषमोह के विजयी हैं। जो बात कषाय में समझी गई है, कषायों से निवृत्त होने के लिए, वही बात रागद्वेषमोह में भी लगाना चाहिये। राग और द्वेष ये कषायें ही तो हैं। कषायों के दो भेद हो गए हैं, कोई कषाय रागरूप है, कोई कषाय द्वेषरूप है और मोह जो है वह इन दोनों धारावों के मूल में भरा हुआ एक विष सागर है। जैसे किसी बाँध में रुका हुआ कोई बड़ा तालाब है इसमें अगर बाँध बीच में न टूट कर अगल बगल टूट जाय तो बीच के स्तम्भ की अटक होने के कारण इसमें दोनों ओर दो धारायें बह निकलती हैं इसी प्रकार इस जीव का मोहभाव, अज्ञानभाव ये विषवत् हैं जिनका कि ये प्राणी आदर करते हैं, इस मोहभाव से राग और द्वेष की दो धारायें बह निकलती हैं। जीव का वास्तविक आन्तरिक बसा हुआ शत्रु तो मोह ही है। कहावत में कहते हैं कि यह तो आस्तीन का साँप है। अपनी ही बांह में सुखपूर्वक रहने वाला साँप अपने को ही काट लेता है, ऐसे ही अपने स्वक्षेत्र में, अपने ही प्रदेश में उगने वाला यह मोहभाव इस आत्मा को ही बरबाद कर देता है। अथवा जैसे छेवले आदिक पेड़ों में उन्हीं में से लाख पैदा होती है और वह लाख बढ़कर छेवले के पेड़ को सुखा देती है ऐसे ही यह मोह मुझसे ही पैदा हुआ और मुझको ही यह सुखा डालता है। तो यह मोह उस अज्ञानभाव के भींत की आड़ के कारण दो धाराओं में बह गया है। एक धारा राग की और एक द्वेष की। देखो तभी तो यह जीव राग और द्वेष के विकल्प बनाकर कितना दु:खी हो रहा है? है कुछ नहीं इसका इस पर खेद वह अज्ञानीनहीं कर पाता है। खेद होता है ज्ञानियों को। सभी ज्ञानियों की बात कह रहे हैं। जो करुणावान योगीश्वर हैं वे अज्ञानियों के दु:ख पर खेद करते हैं। देखो तो कैसा गजब है कि दु:खी तो हो रहे हैं अज्ञानी मोही जीव और उसका खेद मान रहे ये ज्ञानी जीव कि देखो ये संसार के प्राणी जरासा ही तो इनकी दृष्टि का फेर है। कोई बड़ा अन्तर नहीं। स्वमुखता और विमुखता मात्र ही तो अन्तर है। ये बहिर्मुख होकर कैसा दु:खी हो रहे हैं। वस्तुत: ज्ञानी उनके दु:ख से दु:खी नहीं हैं किन्तु ज्ञानी पुरुषों ने अज्ञानियों की यह मूर्खता निरखकर अपने में करुणा भाव जगाकर अपने ही भावों से दु:ख माना है, लेकिन विषयों की दृष्टि से कहा जा रहा है और

कहीं अज्ञानियों के दु:ख का खेद ज्ञानी मानते हैं इसका यह अर्थ नहीं है कि अज्ञानियों का बोझ कुछ कम हो गया है क्योंकि अज्ञानियों के दु:ख में कुछ दु:ख ज्ञानियों ने भी माना है। अज्ञानी तो उतना ही पूरा दु:खी हैं जितना कि अज्ञान बसा हुआ है। तो यह मोह महान् अन्धकार है और अज्ञान है। इन सब रागद्वेष मोह भावों पर जिन योगियों ने विजय प्राप्त किया है उन्हें प्रणाम हो।

मोह का अनिष्ट साम्राज्य- इस जगत पर बहुत बड़ा साम्राज्य छाया हुआ है। यह किस किस जीव को किस रूप में बरबाद करने के लिए आ उठ खड़ा हुआ है। पशु पक्षियों का मोह उनके किस्म का है। वे भी अंडों में बच्चों में मोह करने की आदत बनायें हुए हैं। मनुष्यों के बच्चों का मोह और किस्म का है यदि किसी बच्चे को उसकी मां गोदी से उतार दे तो वह अपना अनादर समझकर दु:खी होता है। तो ये पशु पक्षी बच्चे आदि सभी इस मोह के द्वारा सताये हुए हैं। कुछ समझदार पुरुष होते हैं, कुछ कलायें सीख लें तो अब उनको नामवरी का यश कीर्ति का मोह हो जाता है। अरे तेरे में नाम है किसका? तू तो निर्नाम है। ॐ निर्नाम शुद्धं चिदस्मि। अनुभव करो कि मैं नामरहित शुद्ध चैतन्य हूं, इसमें अगर झूठ बात मालूम पड़े तो न मानो और अगर सच्चाई मालूम हो तो अपने भले के लिए मान लेना चाहिये। मेरा कुछ नाम है क्या? नाम धरो, क्या नाम धरते? जो भी नाम धरोगे उसका, वही नाम है सबका। जब सबका वही एक नाम हो जाता है तब फिर नाम की बात तो नहीं रही। मान लो सभी मनुष्यों का नाम खचेडूमल रख दिया जाय तो कौनसा खचेडूमल चाहेगा कि मेरा नाम इन पत्थरों पर खुदाया जाय? अरे उस नाम में तो सभी का नाम आ गया। तो आत्मा का जो भी नाम रखा जाय वह तो सबका नाम है। नाम के मायने वाचक शब्द। इस नाम शब्द से जो भी वाचक शब्द है वह किसका वाचक है? वह सबका वाचक है। फिर मैं तो नहीं आया। यह मैं नामरहित हो गया, इसका निर्णय कर लीजिए। सभी अनर्थों की जड इस नाम का लगाव है तभी कुछ दार्शनिकों ने आस्रव का मूल कारण नाम बताया है। तो मैं नामरहित शुद्ध चैतन्य हूं। एक वह ज्ञान प्रकाश अथवा सामान्य प्रतिभासमात्र जिसमें हमारा उपयोग लगने पर प्रतिभास प्रतिभास में जुड़ गया। अब वहाँ कोई विकल्प नहीं रहा, ऐसा जब निर्विकल्प अनुभव होता है उस समय तो यह वास्तविक रीति से जानता है और फिर उस स्थिति से हटकर विकल्पों में आता है, जब यह परख करते हैं कि और मेरा तो वह स्वरूप है ऐसे इस निर्नाम शुद्ध चैतन्यस्वरूप में सुध न होने से यह अज्ञानी जीव यत्र तत्र अपना उपयोग दे रहा है, अपना सर्वस्व समर्पण कर रहा है।

संसारी जीवों का एक विकल्प ही व्यापार- अज्ञान में जो रुचा उसी के आगे दीन बन जाना, कायर बन जाना, उसके राग में बरबाद कर लेना। मोहियों का यही एक मात्र रोजगार चल रहा है। कोई

कहे कि अमुक का खूब रोजगार है और इस दूसरे भाई का कम रोजगार है, औरों का तो बिल्कुल थोड़ा रोजगार है। अरे सबका एक सा रोजगार चल रहा है, चाहे लखपति हो, चाहे करोड़पति हो, चाहे गरीब हो, देहाती हो, शहरी हो, सभी का रोजगार एक किस्म का चल रहा है। दूसरा रोजगार है ही नहीं। जैसे किसी गाँव में एक ही किस्म का रोजगार चल सकता है, जहां मान लो कोयला या अभरक निकलती है और कुछ बात ही नहीं तो वहां एक ही तरह का रोजगार है। तो ऐसे ही इस संसार में एक ही किस्म का रोजगार चल रहा है, सबको देख लिया भीतर में और कोई दूसरारोजगार जानते ही नहीं, यह ही रोजगार चल रहा कि परपदार्थों का आश्रय करना, पर में उपयोग देना, उनमें कल्पनायें बनाना, भली बुरी बातें सोचना, अनेक प्रकार के विकल्प बनाना, बस यही रोजगार इन संसारी जीवों का चल रहा है। जैसे लोग कहते हैं कि यह साहब कपड़े का रोजगार करते हैं, यह सर्राफे का रोजगार करते हैं, यह अमुक रोजगार करते हैं, पर वे सब तो एक विकल्पों का ही रोजगार कर रहे हैं। दूसरी किस्म का रोजगार संसार में रखा ही नहीं है। पर इन सब रोजगारों में इस आत्मा को टोटा ही पड़ता है, नफे की बात वहाँ नहीं समझ में आती। तो फिर शंका कर सकते हो कि जिस रोजगार में नफे का नाम नहीं, टोटा ही टोटा पड़ता है तो वह रोजगार तो चल ही नहीं सकता। जहाँ पूरी पूँजी मिट गई फिर रोजगार कौन करेगा? प्रभु के निकट बैठकर यह प्रभु ही तो रोजगार कर रहा है अपने को भूलकर, इसलिए कहां पूँजी की कमी नहीं आती। यहाँ टोटा पड़ता जा रहा, विकल्प चलते जा रहे, पर विकल्प चल चलकर यह विकल्पों का खजाना खाली नहीं हो पाता क्योंकि ये विकल्प बेसुध बेहोश मूर्छित लोग ही तो व्यापार कर रहे हैं, टोटा सहते जाते और रोजगार में लगे रहते। इतना भी न सोचा जाता कि इस रोजगार में जब क्लेश ही क्लेश हैं तो इसको बदलकर देखो दूसरा रोजगार करें। जब राग में, द्वेष में, मोह में, विकल्प में किसी प्रकार की शान्ति नहीं प्राप्त हुई तो इस रोजगार को छोड़कर अब जरा सम्यग्ज्ञान का निर्विकल्प होने का ऐसा कुछ रोजगार देखें, पर अज्ञानियों को यह बात मन में नहीं आती। जब तक मोह भाव है तब तक शुद्ध पथ तो मिल ही नहीं सकता।

ज्ञानीयोगियों के वैराग्य का एक मोटा कारण- इन योगीश्वरों ने मोह पर विजय तो पहिले ही कर लिया था। अब योग धारण करने के बाद भी जो रागद्वेष शेष रह गए थे, अथवा जो भी रह गए उन पर अब ये विजय कर रहे हैं, उन सबको जीत रहे हैं, उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। किसी पुरुष को फांसी का हुक्म दे दिया जाय तो फिर उसे कुछ भी नहीं रुचता। कोई मिष्ठान्न की अच्छी थाली भी उसके सामने रख दे तो भी उसे वह मिष्ठान्न नहीं रुचता, और भी अनेक प्रकार की भोग सम्बन्धी चीजें उसके सामने हाजिर की जायें तो भी उसे नहीं रुचतीं, क्योंकि वह तो जानता है कि मेरे तो प्राण जाने वाले हैं, इसी प्रकार जिन योगीश्वरों को जन्ममरण का भय लगा हुआ है वे

योगीश्वर संसार के किसी भी विषय प्रसंग में अपनी रुचि नहीं रखते। सम्यग्ज्ञान के बल से ये योगीश्वर रागद्वेषमोह को जीत लेते हैं ऐसे वीतराग वीतद्वेष, वीतमोह योगियों को मेरा नमस्कार हो।

जितसुखदु:ख योगियों का अभिवन्दन- ये योगी सुख दु:ख के विजयी हैं, ये न सुख में लगाव रखते हैं और न दु:ख में। दोनों को औपाधिक समझ रहे हैं। ये सुख दु:ख क्या हैं? कर्मोदय का निमित्त पाकर रागद्वेषादिक का मिश्रण होकर एक आनन्द गुण का विकार हुआ है सुख अथवा दु:ख। यह मेरा स्वरूप नहीं है। ज्ञानी योगी इन सुखों में लगाव नहीं रखते। एक क्षण की भी बेहोशी 70 कोड़ाकीड़ी सागर तक के मोहनीय कर्म का बन्ध करा देती है। इतना ऐब भरा है इस मोह में, इस बेसुधी में और फिर जो निरन्तर यह बेसुधी ही बनाये रहते हैं उन्हें तो संसार सुभट कहा गया है। पर जिन योगीश्वरों ने भी भय किया उन परतत्त्वों से भी ये संसारी जीव भय नहीं करते, बल्कि उनमें ही रमा करते हैं। सुख दु:ख एक कल्पना भरा भाव है। कल्पनायें करके अभी दु:ख को ही बदलकर सुखरूप भी किया जा सकता है। कल्पनायें करके ही दु:ख को सुखरूप में ढाल सकते है। इनका आधार कल्पनायें हैं। कोई इष्टवियोग हो गया तो खुश होता है चलो एक बन्धन से तो मेरा निकलना हुआ, अब मैं स्वतंत्र हो गया, अपने आत्मा के स्वरूप की आराधना करूँगा और इस संसार के संकटों से दूर होने का उपाय बना लूँगा और कोई इष्टवियोग में अत्यन्त क्लेश मानता है। दु:ख उसने कल्पनाओं से ही तो किया, कोई विषयों में सुख मानता है, उसे बड़ी मौज है, सब प्रकार के साधन मिले हुए हैं, खाने पीने का बहुत सुन्दर इन्तजाम है, वह इन विषयों से सुख मानता है। तो ये सब काल्पनिक चीजें हैं। आत्मा तो इन कल्पनाओं से परे अमूर्त विशुद्ध अखण्ड ज्ञानस्वरूप है और उसका आनन्द भी अविचल अखण्ड स्वाधीन है, ऐसा समझने वाले योगीश्वरों ने सुख दु:ख पर विजय प्राप्त किया है, ऐसे सुख दु:ख के विजयी योगीश्वरों को मेरा नमस्कार हो।

श्लोक 23

एवं मए मित्थुया अणयारा रायदोसपरिसुद्धा।

संघस्स वरसमाहिं मज्झवि दुक्खक्खयं दितु।।23।।

योगभक्ति में अभ्यर्थना- जिस प्रकार मेरे द्वारा स्तवन किया गया ये अनगार योगीश्वर जो रागद्वेष से दूर रहते हैं वे संघ को उत्तम समाधि प्रदान करें और मेरे भी दु:ख का क्षय करें। यह प्राकृत योगभक्ति में अन्तिम छन्द के द्वारा योगिस्तवन में अपना उद्देश्य प्रकट किया है। वस्तुत: समाधि और दु:ख का क्षय तो स्वयं को स्वयं ही करना है लेकिन जो समाधिभाव में चले हैं, जिनके दु:ख

का क्षय हो रहा है ऐसे योगीश्वरों की भक्ति से, उनके सन्निधान से उनके उस भीतरी पुरुषार्थ के स्मरण से भक्त में अपना बल प्रकट होता है और उससे वे समता प्राप्त करते हैं, दु:ख का क्षय करते हैं। ये योगीश्वर अनगार हैं, घररहित है, इनका अब द्रव्य घर भी न रहा। ईंट, पत्थर महलों वाले घर में ये योगीश्वर अब नहीं बसते। जंगल में, झाड़ियां में, गुफावों में स्वतंत्र यत्र तत्र विहार करते हैं। उनके भाव में घर भी न रहा। उस बीते हुए समय की कल्पनायें तक भी नहीं करते। जिनका ध्येय बदल गया। जो एक उत्कृष्ट ध्येय में आ गए उनको व्यतीत बातों की कल्पना नहीं जगती कि कैसा सुख भोगा था, क्योंकि अब ये द्विज हो गए ना। दुसरी बार का जन्म हुआ है। ऐसे ये निर्ग्रन्थ अनगार पुरुष मुझे समतापरिणाम दें और दु:खों का क्षय करें। ये रागद्वेष से रहित हैं। जहां रागद्वेष हैं वहां समता नहीं और दु:खों का क्षय भी नहीं। समता और विगतक्लेशता प्राप्त करने का उपाय तो रागद्वेष से रहित होना है। सो जो इस उपाय में सफल हो रहे हैं ऐसे रागद्वेष से रहित योगियों का यहाँ स्तवन किया है और उस संघ की कुशलता और अपनी कुशलता की चाह की है कि वास्तविक जो कुशलता है, स्वच्छता है वह बनी रहे और अपने इस विशुद्ध अविकार ज्ञानस्वभाव में स्थित रहें, इस प्रकार की योगभक्ति करके प्रार्थना की गई है।

लघुयोगभक्ति

श्लोक 1

प्रावृट्काले सविंधुस्प्रपतितसलिले वृक्षमूलाधिवासा:,

हेमन्ते रात्रिमध्ये प्रतिविगतभया: काष्ठवत्त्यक्तदेहा:।

ग्रीष्मे सूर्यांशुतप्ता गिरिशिखरगता: स्थानकुटान्तरस्था

स्ते मे धर्मं प्रदधुर्मुनिगणवृषभा मोक्षनि:श्रेणिभूता:।।1।।

योगभक्ति में योगियों के स्तवनपूर्वक हित की अभ्यर्थना- संस्कृत भाषा में निबद्ध योगभक्ति पहिले हो गयी थी और प्राकृत भाषा निबद्ध योगभक्ति में अभी अभी समाप्त हुई है। अब जिन अवसरों में योगभक्ति करना आवश्यक है और जो अवसर ऐसे माने गए हैं कि बड़ी योगभक्ति न करके लघुयोगभक्ति करके भी अनुष्ठान पूर्ण किया जा सकता है उस अवसर में लघुयोगभक्ति पढ़ी जाती है। इस योगभक्ति में तीन छंद हैं, किन्तु तीनों छंदों में शीघ्र ही योगियों के सम्बन्ध में क्या विचारा जाना चाहिए, उसका संक्षिप्त और उत्तम वर्णन है। इस प्रथम छंद में कहते हैं कि वे मुनिगण श्रेष्ठ मुझे धर्म प्रदान करें। योगियों की उपासना के उद्देश्य में केवल यह चाहा गया है कि मेरे में धर्म का विकास हो। जिस महापुरुष का जिस पर अधिकार है उससे उसकी वान्छा करे, उस जगह अधिकार करे तो उसकी सिद्धि हो सकती है। पर जो वस्तु है ही नहीं उनके पास अथवा जिस वस्तु का उन्होंने परित्याग कर दिया है उसकी वान्छा करने से कोई सिद्धि नहीं है। योगी धर्ममूर्ति कहलाते हैं। धर्म हम कहाँ देखें, ऐसी यदि चित्त में अभिलाषा हुई हैं तो योगियों को देखने लगें, इनकी मुद्रा में, इनके उठने बैठने में, इनके वचनों में और अनुमान से समझ गए इनके उस चित्तप्रसार में धर्म का विस्तार पड़ा हुआ है, ऐसे धर्ममूर्ति मुनिगण श्रेष्ठ मुझे धर्म प्रदान करें।

वर्षा ऋतु में योगियों का योग- ये मुनिराज तीन ऋतुवों में तीन ऋतुवों के कठिनपरीषह सहकर भी अपनी ज्ञानस्वरूप की उपासना के कर्तव्य से विचलित नहीं होते। वर्षाकाल में जब कि विद्युत् जगह-जगह थोडे-थोडे समय बाद चमक रही है, जहां बिजली की बड़ी गर्जनायें चल रही हैं और मेघों की भी गर्जनायें चल रही है, जहां मूसलाधार जलधारा पड़ रही है ऐसे वर्षाकाल में ये योगीश्वर वृक्षों के मूल में अधिवास करते हैं। यहां अधिवास शब्द लिखा है जो कि एक छंद में तुक पूर्ति के लिए नहीं, किन्तु एक मर्म बताने के लिये है। वास प्रवास अधिवास में अन्तर है। वास में तो प्राय: स्वामित्व बसा हुआ है, हमारा इस घर में वास है। प्रवास में अपने लौकिक निवास स्थान को

छोड़कर किसी अन्य जगह में स्वामित्व बसाया है और अधिवास में किसी प्रसंग को पाकर उस प्रसंग तक ठहरने का अर्थ बसा हुआ है। ये योगीश्वर वर्षाकाल में वृक्षों के नीचे निवास किया करते हैं।

शीत और ग्रीष्म ऋतु में योगियों का योग- ये योगी शीत ऋतु में रात्रि के मध्य निर्भय होकर किसी भी मैदान में कहीं भी इस प्रकार देह का उत्सर्ग करके ठहरे हैं जैसे कि मानो कोई काठ पड़ा हुआ हो। ऐसा शीतकाल जिसमें बन्दरों का अभिमान नष्ट हो जाता है। जब बहुत तेज शीत पड़ती है तो बन्दर भी उससे हार मान जाते हैं। जहाँ तुषार पड़ रहा है, शीत वायु चल रही है ऐसे समय में रात्रि के समय अति शीत पड़ती है उस समय ऐसे देह का ममत्व छोड़कर साधुजन विराजे हुए हैं जैसे कि काठ पड़ा हुआ हो। शरीर निश्चल और भीतर ही गुप्त ही गुप्त अपने स्वरूप के दृढ़ किले में ठहर कर समता का अनुभव किया करते हैं। ये योगीश्वर ग्रीष्मकाल में सूर्य की किरणों से तप्त हुए और पर्वतों के शिखर पर स्थित हुए, अन्य अनेक स्थानों पर रहकर परीषहों का विजय करते हैं। ये योगी क्या हैं? ये मोक्ष की नसैनी हैं। इनका कर्तव्य, इनका आचरण, रत्नत्रय ये मोक्ष की मानो नसैनी हैं। ऐसे ये मुनिगणों में श्रेष्ठ योगी मुझे धर्म प्रदान करें, एक ज्ञानस्वभाव की उपासना करने की धुनि बनावें। इन योगियों के यही तो है सो उनके इस गुणस्मरण को करके यह भक्त यह भाव भाता है कि मुझमें इसही सत् धर्म का विकास हो।

योगियों के योगसाधना की धुन में संस्थानविचय धर्मध्यान की विशेषता- योगसाधक पुरुष अपनी योगसाधना की धुन में इन ही प्रक्रियावों में आराम मानते हैं और इस ही की साधना में अपना समय व्यतीत करते हैं। जैसे कोई मोही लोभी दुकानदार दुकान की चीजें संभालने में धरने में जोडने में अपना समय व्यतीत करते हैं, तो योगीपुरुष इन योगसाधनों के यत्न में अपना समय बिताते हैं। कभी किसी आसन में बैठकर उस ज्ञायकस्वभाव अन्तस्तत्त्व का ध्यान करते हैं, कभी वीरआसन से, कभी कुक्कुटासन से, कभी मृतकासन से काठ की तरह निश्चल पड़े रहकर एक इस अन्तस्तत्त्व की साधना किया करते हैं। धर्मध्यान में संस्थानविचय धर्मसाधना का बहुत बड़ा सहयोग है। इस ध्यानसाधना में मुख्य विषय तो यह है कि लोक और काल के आकार का विचार करना। लोक का आकार जितना महान् है, 343 घनराजू प्रमाण है। उसका विस्तार निरखना और इस लोक में जहां जहां जो जो रचनायें बनी पड़ी हुई हैं उनका चिन्तन करना, यह लोक के आकार का चिन्तन है। इस आकार के चिन्तन का यह साक्षात् प्रभाव पड़ता है, यह मन अपनी उद्दण्डता छोड़ देता है। मन नामवरी के लिए उद्दण्ड रहा करता है। नामवरी भी किसकी? इस भवमूर्ति की। जैसे कोई पूछे कि हमें बतावो संसार क्या है? तो ये विचित्र देहधारी प्राणी हैं संसार। स्थावर कीट पतिंगे मनुष्य पशु

पक्षी आदिक इनको बता देवे यही है चलता फिरता संसार। इन प्राणियों का जहाँ जहाँ निवास है, जिस जिस प्रकार का उनके देह का आकार है वे सब संस्थानविचय में गर्भित हैं। इनका चिन्तन करना। तो जब लोक का इतना विशाल रूप निरखा इस ज्ञानी ने तो सहसा यह विकल्प टूट जाता है कि काहे का नाम, काहे की ममता? कितनी जगह में अपना ममत्व करना, स्थान तो इतना विशाल है। आज यहाँ जीवित हैं। यहाँ से चलकर अन्यत्र कहाँ उत्पन्न हो गए। कितनी जगह उत्पन्न होने के स्थान? ऐसे विशाल लोकाकार का चिन्तन करके विकल्प वासना टूट जाती है।

लोक और काल के विस्तार की अश्रद्धा में नामवरी के लगाव की आपतितता-इस जीव को सबसे कठिन विपदा लग रही है और खासकर इस मनुष्य को कि इतने नाम से लगाव रख रक्खा। इस ध्यान में विरले ही पुरुष रहे कि मैं नामरहित शुद्धचैतन्य हूं- ऐसी प्रतीति करना, ऐसा अनुभव जगना, ऐसा अपने को मानना यह है अमृतपान। मैं नामरहित शुद्धचैतन्यमात्र हूं। नाम रखा है मायावी लोगों ने। नाम रखा है मायावी भवमूर्ति का। मेरा कोई नाम नहीं। मैं नामरहित शुद्धचैतन्य हूं। मोहीजन नाम का लगाव रखकर फिर क्षेत्र की ममता किया करते हैं। जितनी भी ममता प्रकट हो रही हैं उन ममताओं का यह नाम आधार बन गया है। बंडे-बंडे मकान बनाना, यह अमुक का भवन है, इस प्रकार वह एक नाम के लगाव का ही तो श्रम है। बंडे-बंडे फर्म, बड़े रोजगार, बड़ी कम्पनियाँ, करोड़पति अरबपति, जो इतने बड़े आरम्भ बढ़ाये हुए हैं पुण्य के उदय में प्राप्त हुए, इसकी चर्चा अभी नहीं कर रहे, किन्तु भावों की ओर से चर्चा कर रहे हैं कि इतने बड़े वैभव सम्पदा में वे पाते क्या हैं? किसे क्या दिखाना? कौन किसका मालिक? केवल एक मायामय संसार में अपनी मायामूर्ति का नाम अपना बनाकर चाहते हैं कि लोग जान जायें कि यह कितना धनी है। अरे वह है क्या? एक अमूर्तआकाशवत् निर्लेप केवल चैतन्यमात्र, और यह प्रभु मायाजाल में गुंथकर इतने कष्ट सह रहा है। तो सब अनर्थों का मूल यह नाम का लगाव है। तो क्षेत्र में जो यह ममता बढ़ी हुई है। मेरा क्षेत्र उतना है जितने में नाम हो, जितने में शासन प्राप्त हो, जितना शासन क्षेत्र हो, जितने में अधिकार हो। यह इस नाम के लगाव पर विडम्बना आयी है। ये सब विडम्बनायें ही तो हैं। विडम्बना कहते उसे हैं कि जहां हाथ तो कुछ न लगे और परेशानी बहुत हो। तो इस संसार में जो श्रम किया जाता है, जो व्यवहार किए जाते हैं उन सब क्रियावों में हाथ कुछ नहीं लगता। इससे और बढ़कर क्या उदाहरण होगा कि ये धर्म के काम- शास्त्र सुनना, शास्त्र बांचना, उपदेश करना, समारोह करना, पूजा करना आदिक इनकी प्रवृत्ति में भी भीतर यह लगाव पड़ा हुआ है कि यदि नाम के लगाव की चर्चा धन क्षेत्र में की है तो यहां भी तो विडम्बना हुई। विडम्बना कहते उसे हैं कि हाथ कुछ न लगे और परेशानी बनी रहे। यह भावमात्र जीव अपने भावों को, विकल्पों को, विभावों

को कर करके इतना परेशान हो रहा है। तो संस्थानविचय धर्मध्यान में जहां लोक के इतने विशाल आकार का चिन्तन चलता है वहां फिर यह ममता नहीं ठहरती।

काल के सम्बंध में यथार्थ विचार- अब काल के आकार पर विचार कीजिए। काल में लम्बा चौड़ा आकार नहीं, किन्तु उसकी जो भी मुद्रा है भूत, वर्तमान, भविष्य की, उस रूप में निरखना है। भूतकाल कितना गुजर गया? अनन्तकाल। जिसकी आदि ही कुछ नहीं। कल्पना में यदि काल की आदि लेवोगे कि काल इस समय से, इस क्षण में शुरू हुआ है, इस दिन से शुरू हुआ है तो क्या यह माना जा सकता है कि उस दिन से पहिले समय ही कुछ न था। समय का प्रारम्भ अनुमान में नहीं लाया जा सकता। प्रारम्भ है ही नहीं। अनादि है और इस काल की अनादि के परिज्ञान से यह भी जान जायें स्पष्ट कि प्रत्येक सत् भी अनादि से है। जब से काल है तब से प्रत्येक सत् है। जो ये सब पुद्गल आदिक पदार्थों के समुदाय दिख रहे हैं ये पदार्थ के कब से हैं? जब से यह समय है तब से ये पदार्थ हैं। समय कब से हैं? उसकी आदि बन ही नहीं सकती। समय के बारे में वह कल्पना नहीं बन सकती कि इस दिन से पहिले समय न था। इसी प्रकार इन सत्पदार्थों के सम्बंध में यह कल्पना नहीं बन सकती कि यह जीव इस दिन पहिले कुछ भी न था, इस दिन हो गया। अथवा कोई पुद्गलपरमाणु इस दिन कुछ न था, इससे पहिले कुछ न था, इस दिन हो गया। किसी भी पदार्थ के बारे में आदि की कल्पना उठ नहीं सकती है। तो यह काल अनादि से है।

क्षेत्रकाल के विचार के समय लौकिक वैभव की असारता- देखो अब तक अनन्तकाल व्यतीत हो गया, इस काल में कितने चक्रवर्ती हो गए? अनन्त चक्रवर्ती कहो तो गलत न होगा। कितनी उत्सर्पिणी व्यतीत हो गयी, अवसर्पिणी व्यतीत हो गयी? इन सभी में चक्रवर्ती उत्पन्न तो होते हैं और एक काल में 12 चक्रवर्ती हो जाते हैं। उत्सर्पिणी में भी और अवसर्पिणी में भी। और ऐसे ऐसे 5 भरत और 5 ऐरावत इन 10 क्षेत्रों में होते हैं, और 5 महाविदेहों में 160 नगरियों में प्रत्येक में तो ये चलते ही रहते हैं। वहां काल विभाग इस प्रकार का नहीं है। यों असीम उत्सर्पिणी अवसर्पिणीकाल व्यतीत हो गए तो क्या कहा जाय, कितने वैभववान पुरुष हो गए? क्या रहा? कुछ भी नहीं रहा। सबने अपने अपने पुण्योदयकाल में विकल्प मचाये। किन्हीं विरले पुरुषों ने विरक्ति भी रखी। हम आप सबने कितने भव धारण किये? जरा उस काल की अनादिता सोचकर स्पष्ट समझ लीजिए, अनन्तभाव व्यतीत कर डाले। उन भवों में पाया क्या? विडम्बना की। किसी भव में बड़े राजा महाराजा भी हुए कि सब जनता और बड़े बड़े राजा भी चरणों में पड़े रहे। सब पर अधिकार बना, उस समय इस जीव को लगता होगा ऐसा कि मैं प्रभु हूं, मैं इनका मालिक हूं, ऐसी अनेक बार स्थितियाँ पायीं, पर रहा क्या? उस समय भी हमने विडम्बना ही पायी। जहाँ मिलेजुले कुछ

नहीं, परेशानी ही रहे, उसको कहते हैं विडम्बना। तो जब काल का स्वरूप विचारा जाता है तो इसको यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि अनादि अनन्तकाल के समक्ष ये 10-20-30 वर्ष क्या गिनती रखते हैं, उतने समय के लिए नाम का लगाव रखकर तन, मन, धन, वचन का श्रम करना, यह इस जीव के लिए अहित भरी बात है।

संस्थानविचयधर्मध्यान में पार्थिवी धारणा का योग- इस ही संस्थानविचय धर्मध्यान में धारणावों द्वारा ध्यान की साधना बतायी है। पार्थिवी धारणा में चिन्तन चलता है कि एक बड़ा समुद्र है मानों हजारों लाखों योजनों के विस्तार वाले समुद्र में चारों ओर पानी ही पानी दिखाई देता है। देखिये यह सब कल्पनाओं से सोचा जा रहा है, अब अगर कल्पनायें कर करके जहाँ आत्मा का उपयोग ले जायगा उस क्षण में इस कल्पना से ऊपर चढ़े हुए उन्नत आत्मा में सहजउन्नतभाव हो जायगा। इस विशाल समुद्र के बीच एक मेरूपर्वत के समान विशाल लम्बा चौड़ा ऊँचा एक कमल नाल है जिस पर विस्तृत कणिका है, उस पर कमल विकसित है, उस पर एक आसन है, इतना ऊपर अपने को कल्पना में ले जाया गया है। इस मन का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। इतने ऊँचे स्थित यह मैं अरहंत के समान हूं। समान-समान सोचते हुए भूल गए भेद। मैं अरहंत हूं। अपने गुणों को निरखकर उपयोग को इस विशुद्ध स्वरूप में ले जाया गया है। साथ ही इस भूमितल से ऊँचे उठकर इस भाव में जो विराजमान किया गया है सो उससे कितना ही भार, कितने ही विकल्प हट जाने में पूर्ण सहयोग मिलेगा, और ऐसी निर्भार स्थिति में यह प्रभुसम अपने स्वरूप का विचार कर रहा है। अब इसका उपयोग सहजज्ञान दर्शन आदिक गुणों में लग रहा है। वहाँ भेद उपासना टालकर अभेद उपासना का भी अवसर इसे मिल सकता है।

संस्थानविचयधर्मध्यान में आग्नेयी धारणा का योग- पार्थिवी धारणा में चल रहा है चिन्तन और इस ही चिन्तन के अनन्तर जब शरीर का ऐसा फैलफुट आकार भूलकर एक सामान्यतया एकत्रिकोण आकारमात्र रह गया है। जैसे कि पद्मासन में बैठे हुए पुरुष के चारों ओर यदि सीधी लैन लगा दी जाय तो चारों ओर न लगेगी, तीन ओर लगेगी। और वह एक त्रिकोण बन जायगा। इस मूर्ति के चारों तरफ आग्नेय मंत्र के रं रं रं का पंक्तिबद्ध वर्ण प्रसार बना हुआ है। आधार तो शिखा की भाँति ऊपर ही चढ़ा करता है और यदि आकार रहित भी र हो तो भी ऐसा लम्बा खिंचकर अपना आकार रखता है। जैसे अग्नि की शिखा जल रही हो और यदि आकाररहित रकार हो तो उसका एक जुड़वा शिखा और एक टुटुमा शिखा ऐसी तीन शिखा के रूप में उसकी मुद्रा बनती है। यह र अग्नि का प्रतीक है। यह बात कुछ सही विदित होती है। तो अपनी इस मुद्रा के चारों और ( ) रं रं रं प्रतीक फैला हुआ है और मध्यस्थान में जहां एक दो कमल की कल्पनायें हुई हैं और कल्पनायें भी

क्या? इस शरीर की रचना में भी एक मापदण्ड में 5-6 स्थान पर ऐसी मुद्रा पड़ी है जो कुछ कमल पंखुडियों की मुद्रा के रूप में हैं। एक उनमें से नाभिकमल देखें जो कि 16 दल का है, सोलह पत्रों का है, जिन सोलह पत्रों पर सोलह स्वर लिखे हुए हैं। व्यन्जनों की अपेक्षा स्वर का महत्त्व विशेष है। ये स्वर स्वयं राजन्ते। ये स्वयं में ही विराजमान, स्वयं ही उच्चार्यमान, स्वयं शोभायमान हैं। इनकी सत्ता के लिए, प्रयोगात्मक अस्तित्त्व के लिए अर्थात् इन स्वरों के बोलने के लिए किसी दूसरे वर्ण की अपेक्षा नहीं रखी जाती। ऐसे स्वराजित कमल के दलों के बीच की कर्णिका में र्हं का बीजमंत्र लिखा हुआ है जिनकी रेफ से एक ऐसी चैतन्य प्रतपन शिखा विकसित हुई है कि जिस ज्वाला से यह अष्टदलकमल जल गया है। वह अष्टदलकमल क्या है? अष्टकर्मों का प्रतीक। और उसकी शिखा ऐसी बढ़ी कि उस अष्टदलकमल को जलाकर चारों और शिखा फैल गयी। तो यह भवमूर्ति समस्त भस्म हो गया, अब वहाँ कुछ नहीं रह गया। तो एक भस्ममात्र शेष रह गयी। ये योगी अथवा कोई ज्ञानी इस ध्यान के समय में अपने आपमें आग्नेयी धारणा विधि से आत्मा का चिन्तन कर रहे हैं। अब इस धारणा के बाद उसका चिन्तन मारुतीधारणा में चलेगा।

संस्थानविचयधर्मध्यान में मारुतीधारणा का योग- आग्नेयी धारणा में उस ज्ञानी आत्मा ने अपने आपको समस्त भारों से रहित ज्ञानमात्र अनुभव किया है। कर्म देह विभाव सब जल गए हैं। अब इस अनुरूप कुछ यहां वहां मानो भस्म पड़ी हुई है, कुछ शेष रह गयी है, नि:सार। तो अब मारुतीधारणा आती है। मारुतीधारणा में वायु बड़े वेग से बह रही है। तो इस धारणा में प्रारम्भ तो वायुवेग से हुआ। अब वह वेग विशुद्ध ज्ञानवेग के रूप में आया हुआ है, और इस विशुद्ध ज्ञानवायु के रही सही जो भस्म थी वह सब उड़ रही है। जो किञ्चित्मात्र सम्बंध का भार था, नि:सार भी भस्म का सम्बंध अथवा लगाव था वह भी उड़ गया है। उस प्रचंड वायुवेग के भस्म उड़ने के बाद यह बहुत ही निर्भार हुआ।

संस्थानविचयधर्मध्यान में वारुणीधारणा का योग- इसके बाद अब वारुणी धारा में यह ध्याता आया है। इस धारणा में यह निरखा जा रहा है कि चारों ओर घनघोर मूसलाधार वर्षा बरस रही है, जिस वर्षा के प्रवाह से बड़े बड़े ढेर भी बह जाते हैं। तो वही वर्षा एक ज्ञान वर्षारूप में भाव में आकर यह वर्षा सूक्ष्मरूप से स्पर्श किए हुए भस्म आदिक शेष नि:सार वे परतत्त्व सब बहे जा रहे हैं। और उस जल से इस ज्ञानजल से अब यह बिल्कुल विशुद्ध हो गया है। इस ज्ञानधारा से इसके आत्मा का मानो अभिषेक हो गया है, पूर्ण रूप से सब कुछ धुल गया है, ऐसे विशुद्ध ज्ञानोपयोग में रहकर यह जीव रूपस्थध्यान में आता है।

रूपस्थध्यान का योग- यह मैं आत्मा अनन्त चतुष्टयसम्पन्न वीतराग सर्वज्ञदेव की तरह विशुद्ध चित्प्रकाशमात्र हूं। सोहं, जो वह है सो मैं हूं। जो प्रभु का स्वरूप है सो यहाँ यह मैं हूं, इस प्रकार प्रभु के व्यक्त स्वरूप से अपने स्वरूप की तुलना रखते हुए अब रूपस्थ-ध्यान में है। अरहंत प्रभु के ध्यान को रूपस्थ ध्यान इस कारण कहते हैं कि अरहंत से और उत्कृष्ट अवस्था जो सिद्ध प्रभु की है वह औपचारिकरूप से भी रूपी नहीं है, सर्वथा रूपातीत है। उसकी अपेक्षा अभी यह अरहंत प्रभु सकल परमात्मा हैं सो ये रूपस्थ हैं, आकार प्रकार मूर्त देह इनमें वह आत्मा अवस्थित है अतएव हम अरहंत प्रभु को किसी मुद्रा में, आकार में, स्थापना में इस विधि में हम सोच सकते हैं लेकिन जो आकार सोचा जाता है वह अरहंतदेव नहीं। उस मुद्रा में रहकर भी उस मुद्रा से निराला, निराहार, निर्विहार, निर्विकार, निर्नाम वह प्रभु एक विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है। इसमें रूपस्थ ध्यान में समस्त ऋद्धि वैभव अतिशय सम्पन्न प्रभु की तरह अपने को विचारा जा रहा है। कभी रूपस्थ ध्यान का चिन्तन करते हुए में चूँकि वह एक तुलनात्मक ध्यान है तो हर्ष और विषाद का एक मिश्रण जैसी भी स्थिति आ जाती है। प्रभु के उस गुण को विचारकर तो प्रमोद छाया हुआ है। कितना विशुद्ध ज्ञानस्वरूप इस लोक में जो सर्वस्व हितरूप है, इससे परमपद और क्या कहा जाय? आत्मा की सुरक्षित अवस्था इसके अतिरिक्त और किसे बतायी जाय? एक परम उत्कृष्ट वैभवसम्पन्न है। समयशरण में जो भी अतिशय है अथवा देहादिक सम्बंधी जो भी अतिशय हैं उनके अन्दर आन्तरिक जो अतिशय है उस सर्व अतिशय समृद्धियों से सम्पन्न प्रभु का ध्यान किया जा रहा है।

स्वरूप ध्यान में भक्त की भावुकता- इस ज्ञानी ने ध्यान में अपने को रूपस्थ ध्यान में प्रभु की तरह गुप्त सुरक्षित मजबूत निरखा है, अब उसको क्लेश कहाँ है? पर इसी बीच जब पर्यायकृत वर्तमान हीनता पर दृष्टि पहुंचती है कि प्रभुवत कहाँ तो मेरा स्वरूप, कहाँ यह देह का बन्धन, कहाँ तो निष्काम आनन्दघन आत्मस्वरूप और कहाँ ये रागांश, ये विपदायें, इन वर्तमान विभाव विपदाओं की ओरकुछ नजर करके यह खिन्न भी होता है और तब रूपस्थध्यान में प्रभुभक्ति में एक हर्ष विषाद से मिश्रित अश्रु बिन्दु भी झलक उठते हैं। ऐसे उस परमभक्तिभाव में भी इस ज्ञानी जीव की कितने ही कर्मों की निर्जरा होती है और रागभाव और अनुराग भक्तिभाव के कारण एक विशिष्ट पुण्यप्रकृति का बन्ध होता है, पर ज्ञानी पुरुषों का ध्येय केवल एक आत्मविशुद्धि का है, सिद्धि की प्रसिद्धि का है।

रूपातीतध्यान में संस्थानविचयधर्मध्यान की सम्पूर्णता- रूपस्थ ध्यान में अपने आपमें अनन्त बल की, अनन्त चतुष्टय की भावना करके अपने को सुदृढ़ बनाकर रूपातीत ध्यान में आते हैं, केवल अब चित्प्रकाशमात्र अनुभव करते हैं। इस विशुद्ध श्रद्धा के कारण जो वैभव ऋद्धियां समृद्धियां जगती हैं उन पर अब इनकी रंच दृष्टि नहीं, उनका रंच चिन्तन नहीं। केवल एक शुद्ध स्वभाव का

चिन्तन है, उस चित्प्रकाश का चिन्तन है जो अपने ही सत्त्व के कारण सहज रहता है। ये योगीश्वर यों संस्थानविचयधर्मध्यान के इन प्रकारों में ध्यान करते हुए अपनी विशुद्धि बढ़ाते हैं। संस्थानविचय कितना महत्त्वपूर्ण ध्यान है यह कहा जा रहा है और इसकी शीघ्र और सुगम मुद्रा है। लोक का आकार और काल का विस्तार उपयोग में रहता है तो यह जीव बेसुध नहीं होता। नाम, यश, कीर्ति, पोजीशन आदिक समस्त ऐबों को एकदम छोड़ देता हैं। इस विस्तार के विज्ञान में एकसा ही अद्‌भूत अतिशय भरा हुआ है।

कूपमण्डूकवत् लोकविस्तार के अज्ञानियों के मोह का प्रसार- वे जीव अधिक मोही होते हैं, जिन्हें इस दुनिया के विस्तार का पता नहीं। जो आँखों दिखते हैं, जो प्रयोग में आते हैं, जो चलते फिरते परिचय बनाते हैं, बस इतनी ही दुनिया मेरे लिए सब कुछ है और इस प्रकार दृढ़ता से इस अल्पक्षेत्र को सब कुछ मान रहे हैं, जैसे कूपमण्डूक। उस कुवे के बीच के उतने क्षेत्र को ही सारी दुनिया समझता है। कोई महासरोवरों में उडकर आया हुआ हंस कुवे के तट पर बैठ जाय और मेंढक पूछे कि तुम कहाँ से आये हो? तो वह बताता है कि हम मानसरोवर से आये हैं। वह मानसरोवर कितना बड़ा है? अरे बहुत बड़ा है। वह मेंढक अपनी एक टाँग पसारकर कहता है- क्या इतना बड़ा है? जैसे कि बच्चे लोग कोई हाथ फैलाकर किसी बात को पूछते हैं- क्या वह इतना बड़ा है। तो हंस कहता है- अरे इससे बहुत बड़ा है। तो दूसरी टाँग पसारकर मेंढक पूछता है, क्या इतना बड़ा है? अरे इससे भी बड़ा। तो तीसरी तथा चौथी टाँगों को फैलाकर भी पूछता है- क्या इतना बड़ा है? अरे इससे भी बड़ा तो मेंढक एक कोने से दूसरे कोने में उछलकर पूछता है- क्या इतना बड़ा है? अरे इससे भी बहुत बड़ा। तो मेंढक कहता है कि सब झूठ। है ही नहीं, इसी प्रकार कूपमण्डूकवत् जिनकी दृष्टि है ऐसे मोहीजन कितने अंधेरे में हैं और उसी अंधेरे में दुःखी रहकर ये जीव मोह करते, आकुलतायें मचाते हैं।

मोहियों की परदृष्टि का विस्तार- दुनिया का परिचय न होना, क्षेत्र के विस्तार का पता न पड़ना, यह भी इस जीव की उन्नति में बाधक है। अज्ञान ही तो है। लोक काल विस्तार भी जिन्हें विदित नहीं, जिनकी दृष्टि में नहीं आता कि यह काल अनन्त है और यह पर्याय इतने समय की है। ये दोनों बातें जिनकी दृष्टि में नहीं हैं, बिल्कुल इससे उल्टा श्रद्धान है कि मरते होंगे दूसरे लोग। हम तो सदा रहेंगे। मोही जीवों की ऐसी प्रकृति होती है। दूसरों का मरण देखकर तो निरख लेते हैं कि यह मर गया, अब यह असहाय रह गया। पर घर के ये जिन्दा रहे हुए पुरूष अब अनाथ हो गए, पर अपने बारे में यह ख्याल नहीं करता कि मैं भी इस तरह गुजरूँगा या मेरे घर के लोग गुजर जायेंगे। मोही जीवों को अपने बारे में इस काल का ज्ञान नहीं है। और न यह ज्ञान है कि यह समय तो अनन्त

काल तक चलेगा। इसी कारण इन मोही जीवों का पोजीशन, कीर्ति, यश, नाम, मौज आदिक ऐबों का लगाव हो गया है।

ज्ञानबल से भावकलंक का प्रक्षालन- नामवरी, परिजन आदि के स्नेह, ये सब कलंक हैं, ये कलंक धुलेंगे तो इस ज्ञानजल से धुलेंगे। यह भावकलंक है। कोई पौद्गालिक कलंक लगा हो तो उन्हें किसी चीज से धो डाला जाय, खूब जल डालकर मलमलकर धो डाला जाय, और जो कर्मकलंक पौद्गलिक कलंक लगा है वह यों नहीं लगा हैं क्योंकि आत्मा अमूर्त है, मूर्त में मूर्त चिपकता है और उसे धोया जा सकता है, इस पर कर्मकलंक का चिपकाव कुछ और अनोखे ढंग का है। वहां निमित्तनैमित्तिक भावों के रूप में चिपक हो गई है। यह चिपकाव बड़ा कठिन है। अन्य चिपकाव से विलक्षण है।

जैसे शरीर पर कमीज कोट आदिक पहिने हुए हैं तो यह चिपकाव तो झट अलग किया जा सकता है, पर भीतर भाव में जो स्त्री पुत्र का स्नेह बसा है और इस निमित्तनैमित्तिक भाव में आश्रयभाव में जो स्त्री पुत्र का चिपकाव लगा है यह चिपकाव इन कमीज कोट आदिक से कठिन है। जहां जाय, वहीं चिपकाव है, कहीं चैन ही नहीं पड़ती। घर में रहते हैं तो प्रेम अथवा कलहरूप में वह दु:ख दे रहा है। छोड़कर जाते हैं तो अपने को उन बिना अकेला सा समझकर वहां भी दु:खी रहते हैं। कोट कमीज के चिपकाव को हटा देना सरल है, किन्तु स्त्री पुत्र वैभव परिजन का चिपकाव चिपक न होकर भी कितना कठिन है। इसी तरह आत्मा मूर्त नहीं है, और मूर्त में मूर्त की तरह कर्म पुद्गल का चिपकाव नहीं है। यदि होता यह ऐसा तो इसका धो देना भी आसान था, किन्तु यह चिपकाव तो निमित्तनैमित्तिक रूप में बढ़ा है। यह भावकलंक यह कैसे धोया जायेगा? यह ज्ञानभाव से ही धोया जायेगा। निर्मल विकाररहित विशुद्ध अपने ही सत्त्व के कारण सहज जो चित्प्रकाशस्वरूप है, उसके ज्ञान से, उसके उपयोग से, उसमें ज्ञान को समाया जाने की स्थिति से धोया जा सकेगा। तो ये योगीश्वर यों ध्यान के प्रताप से मोक्षश्रेणी में भी पहुंच जाते हैं। श्रेणी तो अब भी हैं लेकिन जो एक प्रयोगात्मक श्रेणी जिसे क्षपकश्रेणी के रूप में कहा उस पर भी वे अधिकार करते हैं, ऐसे योगीश्वर मुझे धर्म प्रदान करें। उनके स्मरण के प्रसाद से मुझे भी धर्मस्वरूप की प्राप्ति हो।

श्लोक 2

गिम्हे गिरिसिहरत्था वरिसायाले रुक्खमूलरयणीसु।

सिसिरे बाहिरसयणा ते साहु वंदिमो णिश्चं।।2।।

त्रिकालपरीषहविजयी साधुवों का अभिवन्दन- लघुयोगभक्ति के प्रथम छंद में तीन ऋतुवों के परीषहों के विजय की बात न अतिसंक्षेप से, न अतिविस्तार से, किन्तु मध्यमपद्धति से बताया गया था। अब इस द्वितीय छंद में तीन काल के परीषहों का विजय अतिसंक्षेप रूप से कहा जा रहा है। वे साधु जो ग्रीष्मकाल में पर्वतों के शिखर पर स्थित हैं, जो वर्षाकाल में वृक्ष के मूल में अधिवसित हैं, जो शीतकाल की रात्रि में शयन करने वाले हैं उन साधुवों का हम नित्य वन्दन करते हैं। कितना संक्षेप में और ऋतुवों के परीषहों का कथन कर दिया गया है। ग्रीष्मकाल में लोगों को अपने घर में भी चैन नहीं मिलती। घर तप जाता है तब फिर पर्वत शिखर के तपने की कहानी कौन कहे? किन्तु ये साधु अपने उस ज्ञानामृत के पान से निरन्तर शीतल बने हुए साधु शीतकाल में गिरिशिखर पर अवस्थित हैं। तेज बरसात चल रही हो, उस समय वृक्ष के नीचे ठहरना मैदान में ठहरने से भी कठिन है। मैदान में तो वर्षा की नन्हीं नन्हीं बूँदें सहन हो सकती है पर वृक्षों के मूल में जो वृक्षों पत्तों से गिरने वाली मोटी-मोटी बूँद हैं वे तो भारसहित इन पर गिरती हुई वेदना का कारण बन जाती हैं किन्तु ये करुणामूर्ति योगीश्वर वृक्ष के मूल में इस कारण अवस्थित हो गए हैं वर्षाकाल में कि इस देह पर प्रासुक बिन्दुवों का पतन न हो, वृक्षों के पत्तों पर गिरने वाली बूँदे प्रासुक मानी जाती हैं। ये करुणामूर्ति वर्षाकाल के वृक्ष के मूल में अधिवसित रहते हैं और शीतकाल में रात्रि में अत्यन्त अधिक शीत पड़ती है सो सभी जानते हैं। तो वे रात्रि में शीतकाल में बाहरी मैदानों में सोये होते हैं। सोयी हुई बात को यों कहा है कि यद्यपि वे अल्पकाल ही सोते है, एक करवट निद्रा लेते हैं पर शीतकाल में सोये हुए से पड़कर ज्यादा ठंड लगती है और बैठ जायें आसन से अथवा कुकुरू तो वहाँ ठंड कम हो जाती है। तो शीतपरीषहविजय प्रसंग में कहा जा रहा है कि योगीश्वर शीतकाल में रात्रि में बाह्यमैदान में पड़े रहते हैं। ऐसे तीनों काल के परीषहों के विजयी और उस-उस प्रकार अवस्थित होकर ध्यान में तल्लीन होने वाले साधु योगी वंदनीय हैं, उनको हम नित्य वंदन करते हैं।

श्लोक 3

गिरिकन्दरदुर्गेषु ये वसंति दिगम्बराः।

पाणिपात्रपुटाहारस्ते यांति परमां गतिम्।।3।।

एकान्तवासी, करपात्राहारी योगियों का स्तवन व मंगलवाद- अब यह योगभक्ति में चल रही लघुयोगभक्ति का अन्तिम छंद है। जो दिगम्बर साधु गिरि की गुफावों में जंगलों में जो बसते हैं ऐसे पाणिपात्रपुट में आहार लेने वाले दिगम्बर साधु उत्कृष्टगति को प्राप्त होते हैं। ये दिगम्बर कहलाते हैं। दिशा ही जिनका अम्बर है, वस्त्र है, तो शरीर और यह दिशा इनके बीच में कुछ आड़ नहीं है। जो शरीर से लगा हो वही तो शरीर का वस्त्र है, तो उनके शरीर पर दिशायें और कुछ नहीं। ऐसे दिगम्बर अर्थात् निर्वस्त्र, निर्ग्रन्थ साधु ये गिरि गुफावों में, टूटे फूटे दुर्गों में, वनों में बसते हैं। जब क्षुधा की तीव्र वेदना होती है तो एक जीवन रखने के लिए जो कि संयम का साधनभूत है आहारचर्या को निकलते हैं तो वहाँ किसी बर्तन में, पात्र में आहार नहीं लेते हैं, हस्त ही उनके पात्र हैं। हस्त की अंजुली बनाकर उसमें ही ग्रासदातार के द्वारा दिया हुआ लेकर आहार करते हैं। इस निष्पृहवृत्ति में अनेक गुण भरे हुए हैं।

निष्पृहता, आहार में तृष्णा न जगना, अन्तराय आ जाय तो एक ही ग्रास तो बरबाद हुआ, बहुत बरबादी करने से बचना, और वे भी खड़े हुए आहार ले जाते हैं जिससे यह भी स्पष्ट विदित हो रहा है कि ये योगी पुरुष बेकार नहीं रहते हैं। जंगल में या अपने स्थानों में इनको आत्मध्यान का इतना बड़ा काम पड़ा हुआ है कि लो इनको इतनी भी फुरसत नहीं कि आराम से बैठकर मौज से आहार तो कर लें। यह थोड़ासा इन्होंने समय निकाला है। इस जीवन को रखने के लिए उस अल्पसमय में खड़े ही खड़े पाणिपात्रपुट में आहार लिया करते हैं, फिर अपने आत्मध्यान के महान् पुरूषार्थ में लग जाते हैं। यह भी एक भावपूर्ण वन्दन है। उनके बारे में उनका उत्कृष्ट रूप सोचना यह भावपूर्ण वन्दन है। इस प्रकार योगीश्वर के गुणस्मरण के साथ यह योगभक्ति समाप्त होती है।

योगिभक्ति की अञ्चलिका- योगिभक्ति करते समय शरीर के भी ममत्व के त्याग का यत्न रहता है सो योगिभक्ति करते समय जो कायोत्सर्ग किया उसमें जो अतिचार संभव हुए उन दोषों को दूर करने के लिये अब योगिभक्ति की अञ्चलिका का पाठ किया जा रहा है।

हे भगवन् ! योगिभक्ति में कायोत्सर्ग किया, उसकी आलोचना करना चाहता हूं- ढाईद्वीप दो समुद्रों में पन्द्रह कर्मभूमियों में आतापन, वृक्षमूल, अभ्रवास, स्थितापन, मौन, वीरासन, एकपार्श्व, कुक्कुटासन, चतुर्थभक्त, पक्षापवास आदि योगों से युक्त सर्वसाधुवों को नित्यकाल अर्चता हूं, पूजता हूं, वंदता हूं, नमस्कार करता हूं। मेरे दुःखों का क्षय होवे, कर्मों का क्षय होवे, रत्नत्रय का लाभ होवे, सुगति में गमन होवे, सम्यक्त्व होवे, समाधिमरण होवे, जिनगुणों की संप्राप्ति होने।

।।योगिभक्ति प्रवचन समाप्त।।